

तुलसी प्रज्ञा

TULSĪ PRAJÑĀ

वर्ष 33 • अंक 127 • जनवरी-मार्च, 2005

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

(मान्य विश्वविद्यालय)

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN

(DEEMED UNIVERSITY)



तुलसी प्रज्ञा

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-127

JANAURY—MARCH, 2005

Patron

Sudhamahi Regunathan
Vice-Chancellor

Editor in

Hindi Section

Dr Mumukshu Shanta Jain

English Section

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial-Board

Dr Mahavir Raj Gelra, Jaipur
Prof. Satya Ranjan Banerjee, Calcutta
Dr R.P. Poddar, Pune
Dr Gopal Bhardwaj, Jodhpur
Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun
Dr Bachh Raj Dugar, Ladnun
Dr Hari Shankar Pandey, Ladnun
Dr J.P.N. Mishra, Ladnun



Publisher :

Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-127

JANAURY—MARCH, 2005

Editor in Hindi

Dr Mumukshu Shanta Jain

Editor in English

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial Office

Tulsī Prajñā, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
LADNUN-341 306, Rajasthan

Publisher : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Type Setting : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Printed at : Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015, Rajasthan

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers,
the Editors may not agree with them.

अनुक्रमणिका/CONTENTS

हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृष्ठ
भगवान महावीर का जन्म स्थल : एक पुनर्विचार	डॉ. सागरमल जैन	1
जैन धर्म में सम्यग्ज्ञान : स्वरूप और महत्व	डॉ. फूलचन्द प्रेमी	13
जैन परम्परा में विनय की अवधारणा	डॉ. अशोक कुमार जैन	23
त्रिगुण का आधार : विकास की यात्रा	समणी मंगलप्रज्ञा	31
मानवीय चिन्तन में परमसत्ता	सूरजमल राव	43
शास्त्रवार्तासमुच्चय में ईश्वरकर्तृत्ववाद	डॉ. अतुलकुमार प्रसाद सिंह	54

अंग्रेजी खण्ड

Subject	Author	Page
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	60
Jainism Under the Muslim Rule	Kamta Prasad Jain	83
The Jain Teachers of Akbar	Vincent A. Smith	90
Life Style of Non-violence	Muni Dulahraj	100

तर्क का हनन

तार्किक दृष्टिकोण से न तो मर्यादाओं का पालन किया जा सकता है और न कराया जा सकता है। उनका पालन करने वाला श्रद्धावान और उनका पालन कराने वाला हृदयवान हो तभी उसका निर्वाह हो सकता है।

बहुत लोग, जो अपने आपको कूटनीतिक मानते हैं, अहिंसा में विश्वास नहीं करते। हृदय का मतलब ही है - अहिंसा। जहां हिंसा है, बल प्रयोग है, राजसी वृत्तियां हैं वहां हृदय नहीं होता, छल होता है।

छल और श्रद्धा के मार्ग दो हैं। श्रद्धा की उपज निश्छल भाव में है।

जहां नेता के तर्क के प्रति अनुगामी का तर्क होता है, वहां बड़े-छोटे का भाव नहीं होता। वहां होता है तर्क की चोट से तर्क का हनन।

— अनुशास्त्रा आचार्य महाप्रज्ञ

भगवान महावीर का जन्म स्थल : एक पुनर्विचार

– डॉ. सागरमल जैन

जैन धर्म में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर को एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में निर्विवाद रूप से मान्यता प्राप्त हो चुकी है। फिर भी दुर्भाग्य का विषय यह है कि न केवल जन्म एवं निर्वाण काल के संबंध में अपितु उनके जन्मस्थल, कैवल्यज्ञान स्थल और निर्वाणस्थल को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की मान्यताएं प्रचलित हैं। मात्र यही नहीं, इन मान्यताओं के पोषण के निमित्त भी परम्पराओं के घेरे में आबद्ध होकर येन-केन-प्रकारेण अपने पक्षों को सिद्ध करने के लिये प्रयत्न और पुरुषार्थ भी किया जा रहा है। विगत पच्चास वर्षों में इन सब समस्याओं को लेकर विभिन्न पुस्तिकाएँ और लेख आदि भी लिखे गये हैं। यह कैसा दुर्भाग्य है कि भगवान के समकालीन भगवान बुद्ध के जन्म स्थल, निर्वाण स्थल, ज्ञानप्राप्ति स्थल और धर्मचक्रप्रवर्तन स्थल को लेकर सम्पूर्ण बौद्ध समाज एकमत है और उन ऐतिहासिक स्थलों के विकास के लिए प्राणपण से जुटा हुआ है, जबकि जैन समाज आज अपने क्षुद्र स्वार्थी अथवा अहंकारों के पोषण के लिये इस संबंध में मतैक्य नहीं बना सका। भगवान महावीर के जन्म स्थल को लेकर वर्तमान में तीन मान्यताएं प्रचलित हैं—

- (1) अधिकांश विद्वद्जन एवं इतिहासवेत्ता एवं केन्द्रशासन वैशाली के निकट कुण्डग्राम को उनका जन्म स्थान मानते हैं।
- (2) दिगम्बर परम्परा राजगृह और नालन्दा के निकटवर्ती बड़गांव या तथाकथित कुण्डलपुर को महावीर का जन्मस्थल मानते हैं।
- (3) श्वेताम्बर परम्परा बिहार में जमुही के निकट लछवाड़ को महावीर का जन्म स्थल मान रही हैं।

इस प्रकार महावीर के जन्मस्थल को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में एकमत भी नहीं हैं। दुर्भाग्य यह है कि इस संबंध में ऐतिहासिक और सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से विचार करने के लिए कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया। यद्यपि इस संबंध में विद्वद् वर्ग एवं इतिहासविदों ने कुछ लेख आदि लिखे भी हैं, किन्तु पारम्परिक आग्रहों के चलते उनकी आवाज सुनी नहीं गई।

श्वेताम्बर और दिगम्बर पक्षों की ओर से भी महावीर के जन्म स्थल को लेकर कुछ लेख एवं पुस्तिकाओं का प्रकाशन भी हुआ है और उनमें अपने-अपने पक्षों के समर्थन में कुछ प्रमाण भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, किन्तु सामान्यतया जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं वे सभी परवर्तीकालीन ही हैं। प्राचीनतम साहित्यिक एवं पुरातात्विक प्रमाणों को जानने का ही प्रयत्न नहीं किया गया या अपने पक्ष के विरोध में लगने के कारण उनकी उपेक्षा कर दी गई। भगवान महावीर के संबंध में जो प्राचीनतम प्रमाण उपलब्ध हैं, उनमें आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध लगभग (ई.पू. 5वीं शताब्दी), आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध लगभग (ई.पू. प्रथम-द्वितीय शताब्दी), सूत्रकृतांग (ई.पू. दूसरी-तीसरी शताब्दी), कल्पसूत्र (ई.पू. लगभग दूसरी शताब्दी) हैं। कल्पसूत्र में महावीर के विशेषणों की चर्चा उपलब्ध है। उसमें उन्हें ज्ञातृ, ज्ञातृपुत्र, ज्ञातृकुलचंद्र, विदेह, विदेहदित्रे अर्थात् विदेहदित्रा के पुत्र, विदेहजात्य, विदेहसुकुमार आदि विशेषणों से संबोधित किया गया है। ज्ञातव्य है कि ये ही सब विशेषण आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय में भी उपलब्ध है (आचारांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध-मुनि आत्मारामजी-लुधियाना पृ. 1373)। इन विशेषणों में भी विदेहजात्य विशेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि एक बार वैदेही या वैदेही के पुत्र मानकर यह मान लिया जाये कि ये विशेषण उन्हें उनके मातृपक्ष के कारण दिये गये, किन्तु जो विदेहजात्य विशेषण हैं वह तो स्पष्ट रूप से इस तथ्य को स्थापित करता है कि महावीर का जन्म विदेह क्षेत्र में ही हुआ था, जबकि वर्तमान में मान्य नालंदा के समीप वाला कुण्डलपुर तथा लछवाड़ दोनों ही मगध क्षेत्र में आते हैं। वे किसी भी स्थिति में विदेह के अन्तर्गत नहीं माने जा सकते। अतः महावीर का जन्म स्थान यदि किसी क्षेत्र में खोजा जा सकता है तो वह विदेह का ही भाग होगा, मगध का नहीं हो सकता।

इसी प्रसंग में कल्पसूत्र में यह भी कहा गया है कि 'तीस वासाइ विदेहंसि कट्टु' अर्थात् 30 वर्ष विदेह क्षेत्र में व्यतीत करने के पश्चात् माता-पिता के स्वर्गगमन के बाद गुरु एवं वरिष्ठजनों की अनुज्ञा प्राप्त करके उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की।

महावीर का विदेहजात्य होना और फिर गृहस्थावस्था के 30 वर्ष विदेह क्षेत्र में

व्यतीत करना, ये दो ऐसे सबल प्रमाण हैं जिससे उनके कुण्डलपुर (नालन्दा) और लछवाड़ में जन्म लेने एवं दीक्षित होने की अवधारणा निरस्त हो जाती हैं। श्री सीताराम राय ने महावीर के जन्म स्थान को लछवाड़ सिद्ध करने के लिये और वहीं से दीक्षित होकर कुछ ग्रामों में अपनी विहार यात्रा करने का संकेत देते हुए उन ग्रामों के नामों की समरूपता को चूर्णि के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया। किन्तु उनके इस प्रयत्न की अपेक्षा जिन विद्वानों ने उनका जन्म स्थान वैशाली के निकट कुण्डग्राम बताया है और आवश्यकचूर्णि के माध्यम से उनके दीक्षित होने के पश्चात् ही विहार यात्रा के ग्रामों का समीकरण कोल्लागसन्निवेश (वर्तमान कोल्हुआ) आदि से किया है, वह अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। कोल्लाग को सन्निवेश कहने का तात्पर्य यही है कि वह किसी बड़े नगर का उपनगर (कॉलोनी) था और यह बात वर्तमान में वैशाली के निकट उसकी अवस्थिति से बहुत स्पष्ट हो जाती है। कल्पसूत्र में उनके दीक्षा स्थल का उल्लेख करते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि उन्होंने ज्ञातृखण्ड वन में अशोक वृक्ष के नीचे दीक्षा स्वीकार की।¹ इससे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञातृखण्डवन ज्ञातृवंशीय क्षत्रियों के अधिकार का वन क्षेत्र था और ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय जिनका कुल लिखवी था, वैशाली के समीप ही निवास करते थे। आज भी उस क्षेत्र में जथेरिया क्षत्रियों का निवास देखा जाता है। जथेरिया शब्द मूलतः ज्ञातृ का ही अपभ्रंश रूप है, अतः यह सिद्ध होता है कि महावीर का जन्म स्थान वैशाली के निकट कुण्डपुर ही हो सकता है। वैशाली से जो एक मुहर प्राप्त हुई है, उसमें स्पष्ट रूप से वैशालीकुण्ड ऐसा उल्लेख है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि क्षत्रिय कुण्ड, कोल्लाग आदि वैशाली के रूप उपनगर थे। वैशाली गणतंत्र था और इन उपनगरों के नगर प्रमुख भी राजा ही कहे जाते होंगे। अतः भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ को राजा मानने में कोई आपत्ति नहीं आती। पुनः कल्पसूत्र में उन्हें राजा न कहकर मात्र क्षत्रिय कहा गया है। भगवान महावीर का जन्म स्थान वैशाली का निकटवर्ती कुण्डग्राम ही हो सकता है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि भगवान महावीर को सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगम में (1/2/3/22) ज्ञातृपुत्र के साथ-साथ वैशालिक भी कहा गया है। उनके वैशालिक कहे जाने की सार्थकता तभी हो सकती है जबकि उनका जन्म स्थल वैशाली के निकट हुआ।

कुछ लोगों का यह तर्क भी है कि उनके मामा अथवा नाना चेटक वैशाली के अधिपति थे अथवा वैशालिक थे। इसलिये उन्हें वैशालिक कहा गया। किन्तु यह तर्क समुचित नहीं है, क्योंकि मामा या नाना के गांव के निवास स्थान के आधार पर किसी व्यक्ति को पद् नाम से पुकारे जाने की परम्परा नहीं है। दूसरे, हम यदि यह भी मान ले

कि महावीर का ननिहाल वैशाली था और इसलिये वे वैशालिक कहे जाते हैं तो एक संभावना यह भी मानी जा सकती है कि अपने ननिहाल में जन्म होने के कारण उन्हें वैशालिक कहा गया हो। माता के पितृगृह अथवा संतान के ननिहाल में जन्म लेने की परम्परा तो वर्तमान में भी देखी जा सकती है। किन्तु जैसा पूर्व में कहा है कि उन्होंने तीस वर्ष तक 'विदेह' में निवास करने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की (कल्पसूत्र 110 प्रा.भा.सं.पृ. 160) इस आधार पर यह बात पूर्णतः निरस्त हो जाती है कि उन्हें अपने ननिहाल के कारण वैशालिक कहा जाता था।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया जाता है कि महावीर के पिता राजा थे। किन्तु प्रश्न यह है कि वे किस प्रकार के राजा थे— स्वतंत्र राजा थे या गणतंत्र के राजा थे। उन्हें स्वतंत्र राजा नहीं माना जा सकता, क्योंकि कल्पसूत्र में अनेक स्थलों पर तो 'सिद्धत्ये खत्तिये' अर्थात् सिद्धार्थ क्षत्रिय ही कहा गया है।¹ राजगृह का मगध राजवंशी साम्राज्यवादी था, जबकि वैशाली की परम्परा गणतंत्रात्मक थी। गणतंत्र में तो समीपवर्ती क्षेत्रों में छोटे-छोटे गांवों में स्वायत्त शासन व्यवस्था संभव थी, परन्तु साम्राज्यवादी राजतंत्रों में यह संभावना नहीं हो सकती। अतः हम नालंदा के समीपवर्ती कुण्डपुर को अथवा लछवाड़ को महावीर का जन्मस्थान एवं पितृगृह स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि मगध का साम्राज्य इतना बड़ा था कि उनके निकटवर्ती नालंदा या लछवाड़ में स्वतंत्र राजवंश संभव नहीं हो सकता। वैशाली गणतंत्र में उसकी महासभा में 7707 गणराजा थे।² यह उल्लेख भी त्रिपिटक साहित्य में मिलता है, अतः महावीर के पिता सिद्धार्थ को गणराज्य मानने में कोई आपत्ति नहीं आती। क्षत्रियकुण्ड के वैशाली के समीप होने से या उसका अंगीभूत होने से महावीर को वैशालिक कहा जाना तो संभव होता है। यदि महावीर का जन्म नालंदा के समीप तथाकथित कुण्डलपुर में हुआ होता तो उन्हें या तो नालंदीय या राजगृहिक ऐसा विशेषण मिलता था, वैशालिक नहीं। जहां तक साहित्यिक प्रमाणों का प्रश्न है गणनीज्ञानमति माताजी एवं प्रज्ञाश्रमणी चंदनमतिजी ने नालंदा के समीपवर्ती तथाकथित कुण्डलपुर को महावीर की जन्मभूमि सिद्ध करने के लिये पुराणों और दिगम्बर मान्य आगम ग्रन्थों से कुछ सन्दर्भ दिये हैं। राजमलजी जैन से इसके प्रतिपक्ष में महावीर की जन्मभूमि कुण्डपुर नाम पुस्तिका लिखी और उन प्रमाणों की समीक्षा भी की है। हम उस विवाद में उलझना तो नहीं चाहते हैं, किन्तु एक बात बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि दिगम्बर परम्परा के आगम तुल्य ग्रन्थ कषायपाहुड, षट्खण्डागम आदि के जो प्रमाण इन विद्वानों ने दिये हैं, उन्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि इन दोनों ग्रन्थों के मूल में कहीं भी महावीर के जन्मस्थान आदि के सन्दर्भ में कोई

उल्लेख नहीं हैं। जो समस्त उल्लेख प्रस्तुत किये जा रहे हैं वे उनकी जयध्वला और ध्वला टीकाओं से हैं, जो लगभग 9वीं-10वीं शताब्दी की रचनाएं हैं। इसी प्रकार जिन पुराणों से सन्दर्भ प्रस्तुत किये जा रहे हैं वे भी लगभग 9वीं शताब्दी से लेकर 16वीं शताब्दी के मध्य रचित हैं। अतः ये सभी प्रमाण चूर्ण साहित्य से भी परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। अतः उन्हें ठोस प्रमाणों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। केवल सहायक प्रमाण ही कहे जा सकते। इस संदर्भ में श्री राजमलजी जैन ने इस बात को भी बहुत स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है कि इन प्रमाणों में भी एक दो अपवादों को छोड़कर सामान्यतया कुण्डपुर का ही उल्लेख है। कुण्डलपुर के उल्लेख तो विरल ही हैं और जो हैं वे भी मुख्यतया परवर्ती ग्रन्थों के ही हैं। यहां हमें यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि जब क्रमशः महावीर के जीवन के साथ चामत्कारिक घटनाएं जुड़ती गईं, तो अहोभाव के कारण क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड को भी नगर या पुर कहा जाने लगा। यदि हम कल्पसूत्र (पृष्ठ 44) को भी आधार मानें तो स्पष्ट रूप से क्षत्रियकुण्डग्राम और ब्राह्मणकुण्डग्राम का ही उल्लेख है। यहां इन्हें जो 'खत्तीयकुण्डगामेनयरे' कहा गया है उसमें ग्राम नगर शब्द से यही भाव अभिव्यक्त होता है कि ये दोनों मूलतः तो ग्राम ही थे किन्तु वैशाली नगर के निकटवर्ती होने के कारण इन्हें ग्राम-नगर संज्ञा प्राप्त हो गई थी। वर्तमान में भी किसी बड़े नगर के विस्तार होने पर उसमें समाहित गांव नगर नाम को प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः क्षत्रियकुण्ड ही महावीर की जन्मभूमि प्रतीत होती है और स्पष्टतया यह वैशाली का ही एक उपनगर सिद्ध होता है। ज्ञातव्य है कि वैशाली का मूल नाम विशाला था। विशाल नगर होने के कारण ही इसका नाम वैशाली पड़ा था। पुरातात्विक साक्ष्यों की सृष्टि से वैशाली, नालंदा और लछवाड़ (जो जमुई के निकट हैं) की प्राचीनता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। किन्तु प्राचीन साहित्य में नालंदा के समीप किसी कुण्डपुर या कुण्डलपुर का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। वर्तमान लछवाड़, जो जमुई के निकट है और जमुई के संबंध में साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों ही प्रमाण उपलब्ध हैं। कल्पसूत्र में भगवान महावीर स्वामी के केवलज्ञान स्थान का जो उल्लेख मिलता है उसमें यह कहा गया है कि "जंभीयगामस्स" अर्थात् जम्भिक ग्राम के ऋजुवालिका नदी के किनारे वैय्यावृत्त चैत्य के न अधिक दूर, न अधिक समीप शामक गाथापति के काष्ठकरण में शालवृक्ष के नीचे गौदोहिक आसन में उकडू बैठे हुए आतापना लेते हुए षष्ठभक्त उपवास से युक्त हस्तोत्तरा नक्षत्र का योग होने पर वैशाख शुक्ला दशमी को अपराहन में भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है।¹⁶

इससे वर्तमान लछवाड़ की विशेष रूप से जम्भिका ग्राम की प्राचीनता तो सिद्ध

हो जाती है किन्तु यह महावीर का जन्मस्थल है, यह बात सिद्ध नहीं होती है। प्राचीन जो भी उल्लेख हैं, वे मूलतः क्षत्रियकुण्ड से संबंधित ही हैं। वैशाली के समीप वासोकुण्ड को महावीर का जन्मस्थल मानने के संबंध में केन्द्रिय शासन और इतिहासज्ञ वर्ग ने जो निर्णय लिया है, वह समुचित प्रतीत होता है।

इसका एक प्रमाण यह भी है कि वैशाली से प्राप्त एक मुद्रा पर वैशालीनामकुण्डे ऐसा स्पष्ट लिखा हुआ है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वैशाली के निकट कोई कुण्डग्राम रहा होगा और यही कुण्डग्राम क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड ऐसे दो विभागों में विभाजित रहा होगा, अतः भगवान महावीर के जन्म स्थान को वैशाली के निकटवर्ती वासोकुण्ड को ही क्षत्रियकुण्ड मानना चाहिये। इस संबंध में एक परम्परागत अनुश्रुति यह भी है कि वासोकुण्ड के उस स्थल को जिसे महावीर का जन्म स्थान माना गया है, उस पर आज तक कहीं हल नहीं चलाया गया है और वहां के निवासी शासकीय एवं विद्वानों के निर्णय के पूर्व भी उस स्थान को महावीर की जन्मभूमि के रूप में उल्लेखित करते रहे हैं। जहां तक नालंदा के समीपवर्ती कुण्डलपुर का प्रश्न है, उसे तो महावीर का जन्मस्थल नहीं माना जा सकता, क्योंकि महावीर जब-जब भी राजगृही आते थे तब-तब वर्षावास के लिये नालंदा को ही प्रमुखता देते थे, अतः यह तो स्वाभाविक है कि नालंदा के साथ महावीर की स्मृतियां जुड़ी रही हैं। किन्तु उसे उनकी जन्मभूमि स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि न तो वहाँ ज्ञातृवंशीय क्षत्रियों का आवास ही था और न मगध जैसे साम्राज्य की राजधानी के एक उपनगर में किसी अन्य राजा का राज्य होने की संभावना थी। जमुई के निकटवर्ती लछवाड़ नाम कब मिला, यह गवेषणा का विषय है। जमुई की प्राचीनता तो निर्विवाद है और उसका संबंध भी महावीर के केवल ज्ञान स्थल का निकटवर्ती होने से महावीर के साथ जुड़ा हुआ है। किन्तु उसे महावीर का जन्मस्थान न मानकर आगमिक प्रमाणों के आधार पर केवलज्ञान स्थल ही माना जा सकता है। इस संबंध में विस्तृत चर्चा महावीर की कैवल्यभूमि के प्रसंग में करेंगे।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में क्षत्रियकुण्ड या कुण्डपुर की अवस्थिति विदेहक्षेत्र में बताई गई है। इस तथ्य की पुष्टि दिगम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों के सन्दर्भ में श्री राजमलजी जैन ने प्रस्तुत किये हैं। पूज्यपाद देवन्दी की निर्वाणभक्ति में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख किया है कि सिद्धार्थ राजा के पुत्र ने भारत देश के विदेह कुण्डपुर में देवी प्रियकारिणी को सुखद स्वप्न दिखाए और चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उसने उन्हें जन्म दिया। इसी प्रकार आचार्य जिनसेन ने (नवीं शती) हरिवंश पुराण में भारत देश के विदेह क्षेत्र के कुण्डपुर में महावीर के जन्म का उल्लेख किया है। इसी

क्रम में उत्तरपुराण के रचयिता गुणभद्र ने (विक्रम की दसवीं शताब्दी) महावीर के जन्म स्थान कुण्डपुर को भारत के विदेह क्षेत्र में अवस्थित बताया है। इसी पुराण के 75वें सर्ग में भी 'विदेहविषयेकुण्डसंज्ञाता' पुरी के रूप में उल्लेखित किया गया है। आचार्य पुष्पदंत ने वीरजिनदंजरिउ (विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी) में वैशाली कुण्डपुरे ऐसा उल्लेख किया है। इससे भी ऐसा लगता है कि महावीर की जन्म स्थली कुण्डपुरी वैशाली के निकट ही रही। इसी प्रकार दामनंदी (10वीं-11वीं शताब्दी) महावीर के जन्म स्थान कुण्डपुर को विदेह में स्थित बताया है। इसी तथ्य को असग (ग्यारहवीं शताब्दी) ने वर्धमान चरित्र में पुष्ट किया है। वे भी महावीर की जन्मस्थली कुण्डपुर की अवस्थिति विदेह क्षेत्र में बताते हैं। श्रीधर रचित वड्डुमानचरिउ (लगभग बारहवी शती) में भी कुण्डपुर को विदेह क्षेत्र में माना गया है। सकलकीर्ति ने वर्धमान चरित्र के कुण्डपुर को विदेह क्षेत्र में अवस्थित माना है। पुनः मुनि धर्मचंद ने गौतमचरित्र (17वीं शताब्दी) में कुण्डपुर को भरतक्षेत्र में विदेह प्रदेश के अन्तर्गत स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग ईसा की 5वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक दिगम्बर आचार्य एवं भट्टारक कुण्डपुर को विदेह क्षेत्र में अवस्थित ही मान रहे हैं। ज्ञातव्य है कि यहां हमने केवल उन्हीं सन्दर्भों को उल्लेखित किया है, जिसमें कुण्डपुर को स्पष्ट रूप से विदेहक्षेत्र में अवस्थित बताया गया है। महावीर के जन्मस्थल कुण्डपुर होने के तो अन्य भी कई सन्दर्भ हैं, जिसकी चर्चा श्री राजमल जैन ने की है। वस्तुतः महावीर का जन्मस्थल विदेहक्षेत्र में स्थित वैशाली का निकटवर्ती कुण्डपुर नामक उपनगर ही रहा है।

यह सत्य है कि परवर्ती साहित्य में कहीं-कहीं कुण्डपुर के कुछ उल्लेख मिलते हैं जिनकी स्पष्ट समीक्षा श्री राजमल जैन ने की है। हम यहां कुण्डपुर और कुण्डलपुर के विवाद में नहीं पड़ना चाहते। श्वेताम्बर सन्दर्भ तो मूलतः कुण्डग्राम के ही हैं और उसमें भी स्पष्ट रूप से क्षत्रियकुण्ड के हैं। श्वेताम्बर परम्परा में 14वीं शताब्दी में आचार्य जिनप्रभसूरि ने विविधतीर्थकल्प की रचना की थी। उन्होंने भी महावीर का जन्मस्थल कुण्डग्राम ही उल्लेखित किया है। श्री राजमलजी जैन ने अपनी पुस्तक 'महावीर की जन्म भूमि कुण्डपुर' में यह उल्लेख किया है कि कुण्डपुर ही 13वीं शताब्दी तक कुण्डग्राम हो गया होगा, यह उनकी भ्रान्ति है। जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है, कल्पसूत्र आदि में स्पष्ट रूप से 'कुण्डग्राम' का ही उल्लेख है, कुण्डपुर का नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि आगमों के 'कुण्डपुरग्रामनगर' ऐसा उल्लेख भी मिलता है। मेरी दृष्टि में ग्राम, नगर ऐसा समासपद ग्रहण करने पर इसका अर्थ होगा नगर का समीपवर्ती गांव या वह गांव कालान्तर में किसी नगर का भाग या उपनगर बन गया हो।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गणनी ज्ञानमति माताजी ने भी कुण्डलपुर का पक्ष लेते हुए भी उसे विदेह में स्थित तो माना ही है। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या दिगम्बर परम्परा के द्वारा मान्य नालंदा के समीप स्थित कुण्डलपुर अथवा श्वेताम्बर परम्परा के द्वारा मान्य जमुई के निकटवर्ती लछवाड़ को विदेह क्षेत्र में स्थित माना जा सकता है? प्राचीन भारत के भूगोल का अध्ययन करने पर यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमान कुण्डलपुर और लछवाड़ दोनों ही मगध क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। वे किसी भी स्थिति में विदेह क्षेत्र में स्थित नहीं माने जा सकते, क्योंकि प्राचीन भारतीय भूगोल के अनुसार विदेहक्षेत्र की सीमा स्पष्ट रूप से निर्धारित थी। इसकी पश्चिमी सीमा गण्डकी नदी (वर्तमान धाधरा) और पूर्वी सीमा कोशिकी नदी थी। दक्षिण में विदेह क्षेत्र की सीमा का निर्धारण गंगा नदी और उत्तर में हिमालय पर्वत निर्धारित करता था। यदि महावीर के जन्म स्थान की खोज कहीं करनी होगी तो इस विदेह क्षेत्र की सीमा में ही करनी होगी और यह एक सुनिश्चित सत्य है कि नालंदा समीपस्थ कुण्डलपुर और जमुई के समीप स्थित लछवाड़, दोनों ही विदेह क्षेत्र की सीमा के बाहर हैं और मगध क्षेत्र की सीमा के अन्तर्गत आते हैं, अतः साहित्यिक प्रमाण स्पष्ट रूप से वैशाली के निकट वर्तमान वासुकुण्ड के पक्ष में ही जाते हैं। पुरातात्विक दृष्टि से जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया कि नालंदा, जमुई और वैशाली तीनों ही अपना अस्तित्व ई.पू. 6वीं शताब्दी में रखते हैं। यह भी सत्य है कि भगवान महावीर जब भी राजगृही आये हैं और यहां वर्षावास का निश्चय किया है तो उन्होंने अपना चातुर्मास स्थल नालंदा को ही चुना। पुरातात्विक साक्ष्यों से यह भी सिद्ध है कि महावीर के काल में नालंदा राजगृही का एक उपनगर या सन्नवेश माना जाता था। वर्तमान में जो बड़गांव कुण्डलपुर में दिगम्बर और श्वेताम्बर मंदिर है उनमें स्थित प्रतिमाएं सोलहवीं शताब्दी के पूर्व की नहीं हैं। नालंदा की प्राचीनता के संबंध में जो पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं वे अधिकांश बौद्ध परम्परा से ही संबद्ध हैं। जैन परम्परा से संबंध अभी तक कोई भी ऐसा पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है जो महावीर के जन्मस्थल पर स्थित किसी प्राचीन मंदिर आदि की अवस्थिति को सिद्ध करे। इसी प्रकार जमुई के निकट स्थित लछवाड़ में प्राचीन अवशेष उपलब्ध होते हैं। लेखक स्वयं जिस समय लछवाड़ गया था, उस समय वहां नये मंदिर के निर्माण के लिये प्राचीन मंदिर को गिरा दिया गया था। यद्यपि जिस मंदिर को गिराया गया था, वह तो अतिप्राचीन नहीं था, किन्तु उसके नीचे जो चबूतरा था उस चबूतरे में तथा उस चबूतरे को खोदने पर निकली सामग्री में लेखक को कुछ प्राचीन ईंटों के खण्ड उपलब्ध हुए थे जो कम से कम मौर्य काल के पश्चात् के और गुप्त काल के पूर्व के थे। मंदिर में जो मूलनायक महावीर स्वामी की प्रतिमा थी, वह स्पष्ट रूप से

पालकालीन अर्थात् 9-10वीं शताब्दी की थी। इससे यह तो निश्चित होता है कि लछवाड़ में महावीर की स्मृति में ही प्राचीन काल में कोई मंदिर अवश्य बना था, किन्तु यह महावीर का जन्मस्थल था, यह स्वीकार करने में अनेक बाधाएं हैं। इस संबंध में डॉ. सीताराम राय का एक लेख श्रमण, अगस्त 1989 में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने लछवाड़ को महावीर का जन्म स्थान स्वीकार किये जाने के सन्दर्भ में एक तर्क यह दिया है कि कल्पसूत्र का कुण्डग्राम पहाड़ी क्षेत्र में अवस्थित था जबकि वैशाली के पास वसुकुण्ड में पहाड़ों का नामो-निशान नहीं है। किन्तु लेखक ने यह निर्णय कैसे ले लिया कि कल्पसूत्र में कुण्डग्राम को पहाड़ी क्षेत्र में अवस्थित बताया गया है। कल्पसूत्र में एवं आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में महावीर के जन्म का पहाड़ी क्षेत्र में अवस्थित होना कहीं भी उल्लेखित नहीं है। इसी प्रकार प्रस्तुत लेखक ने यह भी लिखा है कि महावीर गृहस्थ जीवन के परित्याग के अवसर पर कुण्डग्राम का परित्याग कर उससे उत्तर-पश्चिम की ओर पहाड़ की ओर ज्ञातृखण्डवन पहुँचने का वर्णन मिलता है, किन्तु यहाँ भी पहाड़ की कल्पना लेखक की स्वैर कल्पना है। आचारांग, कल्पसूत्र यहाँ तक की आवश्यकचूर्णि में भी जहाँ ज्ञातृय वनखण्ड का उल्लेख है, वहाँ भी कहीं पहाड़ आदि होने का उल्लेख नहीं है। सीताराम राय ने जमुई अनुमण्डल के लछवाड़ को, जो महावीर का जन्म स्थल मानने का प्रयत्न किया है और उसकी पुष्टि में आवश्यकचूर्णि में उल्लेखित उनकी विहार यात्रा के कुछ गांव यथा- कुमार, कोल्लागं, मोरक, अस्थिय ग्राम का समीकरण वर्तमान कुमार, कोन्नाग, मोरा और अस्थावा से करने का जो प्रयत्न किया है, वह नाम साम्य को देखकर तो थोड़ा सा विश्वसनीय प्रतीत होता है किन्तु जब हम इनकी दूरियों का विचार करते हैं तो वैशाली के निकटवर्ती कुमार, कोल्हुवा, अस्थिय गांव आदि से ही अधिक संगति मिलती है। वर्तमान में भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों और मण्डलों के समान नाम वाले गांवों के नाम उपलब्ध हो जाते हैं। वस्तुतः डॉ. सीताराम राय ने जो समीकरण बनाने का प्रयास किया है वह दूरियों के हिसाब से समुचित नहीं है। उन्होंने जमुई से वर्तमान पावा की आगमों में उल्लेखित 12 योजन की दूरी को आधुनिक पावापुरी से समीकृत करने का जो प्रयत्न किया है वह तो किसी भी रूप में मान्य नहीं हो सकता। लेखक ने स्वयं भी जमुई से पावापुरी तक की यात्रा की है। बारह योजन की दूरी का तात्पर्य लगभग 160 कि.मी. होता है, जबकि जमुई से पावापुरी की दूरी मात्र 60 कि.मी. के लगभग है। अतः चाहे जमुई को महावीर का केवलज्ञान का स्थान मान भी लिया जाय तो उससे वर्तमान पावा की दूरी आगमिक आधारों से सिद्ध नहीं होती।

वर्धमान महावीर के वैशालिक होने का एक प्रमाण हमें थेरगाथा की अट्टकथा

(व्याख्या) में मिलता है। थेरगाथा में वर्धमान थेर का उल्लेख है। उनमें कहा गया है कि दान के पुण्य के परिणाम स्वरूप वर्धमान देवलोक से च्युत होकर गौतमबुद्ध के जन्म लेने पर वैशाली के लिछवी राजकुल में उत्पन्न होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। (इमस्मि बुद्धुप्पादे वेसालियं लिच्छवि राजकुले निव्वत्ति वडढमानों तिसस नामं अहोसि-। थेरगाथा अट्टकथा नालन्दा संस्करण पृ. 153) इस प्रकार यहां उन्हें वैशाली के लिछवी राजकुल में जन्म लेने वाला बताया गया। यद्यपि परम्परागत विद्वानों का यह विचार हो सकता है कि ये वर्धमान बौद्ध परम्परा में दीक्षित कोई अन्य व्यक्ति होंगे, किन्तु हमारा यह स्पष्ट अनुभव है कि जिस प्रकार ऋषिभाषित सभी अर्हतऋषि निर्ग्रन्थ परम्परा के नहीं हैं, उसी प्रकार थेरगाथा में वर्णित सभी स्थविर बौद्ध नहीं हैं। वैशाली के लिछवी राजकुल में उत्पन्न बुद्ध के समकालिक वर्धमान महावीर से भिन्न नहीं माने जा सकते। थेरगाथा की अट्टकथा के अनुसार उन्होंने आंतरिक और बाह्य संयोगों को छोड़कर रूपराग, अरूपराग तथा भवराग को समाप्त करने का उपदेश दिया तथा यह कहा कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को साक्षीभाव से देखते हुए भवराग और संयोजनों का प्रहाण संभव हैं, क्योंकि उनके ये विचार आचारांग एवं उत्तराध्ययन में भी मिलते हैं। इस उपदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि थेरगाथा में वर्णित वर्धमान थेर अन्य कोई नहीं, अपितु वर्धमान महावीर ही हैं। इस आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि महावीर का जन्म वैशाली के लिछवी कुल में हुआ था। महावीर के प्रवर्जित होने का उल्लेख करते समय यहाँ स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि संवेग (वैराग्य) उत्पन्न होने पर उन्होंने अग्निर्कर्म का त्याग करके, संघ से क्षमायाचना करके, कर्म परम्परा को देख करके प्रव्रज्या ग्रहण की। यह समग्र कथन भी जैन (निर्ग्रन्थ) परम्परा के अनुकूल ही है, अतः इससे भी यही सिद्ध होता है कि थेरगाथा के वैशाली के लिछवी कुल उत्पन्न वर्धमान थेर वर्धमान महावीर ही है। इस प्रकार बौद्ध त्रिपिटक साहित्य भी महावीर के जन्म स्थल के रूप में विदेह के अन्तर्गत वैशाली को ही मानते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में हरमन जैकोबी, हार्नले, विसेण्टस्मिथ, मुनिश्री कल्याणविजयजी, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, ज्योतिप्रसाद जैन, पं. सुखलालजी आदि जैन-अजैन सभी विद्वान् वैशाली के निकटस्थ कुण्डग्राम को ही महावीर का जन्म स्थल मानते हैं।

बौद्धग्रन्थ महावग्ग (ईस्वीपूर्व 5वीं शती) में वैशाली के तीन क्षेत्र माने गये हैं। 1. वैशाली, 2. कुण्डपुर एवं 3. वाणिज्यग्राम। महावीर का लिछवी राजकुल में जन्म मानने पर भी यह स्पष्ट है कि महावग्ग के अनुसार वैशाली में 7707 राजा थे। अतः महावीर के पिता को राजा मानने में बौद्ध साहित्य से भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ राजा शब्द का अर्थ वैशाली महासंघ की संघीय सभा का सदस्य होना ही है।

कुण्डग्राम की वसुकुण्ड से समानता के सम्बन्ध में डॉ. श्यामानंद प्रसाद ने यह आपत्ति कि वसुकुण्ड में केवल कुण्ड शब्द की ही समानता है, 'वसु' शब्द न तो ब्राह्मण का पर्यायवाची हो सकता है, न क्षत्रिय का, अतः उनका कहना है कि वर्तमान वसुकुण्ड को महावीर का जन्म स्थल नहीं माना जा सकता। किन्तु डॉ. प्रसाद ने मूल आगम साहित्य को शायद देखने का प्रयास नहीं किया। आचारांगसूत्र में वसु^४ और वीर^९ शब्द का प्रयोग श्रमण के अर्थ में हुआ है। मात्र यही नहीं, वसु शब्द का एक अर्थ जिनदेव या वीतराग भी उपलब्ध होता है, वस्तुतः यह संभव है कि भगवान महावीर के संयम-ग्रहण करने के बाद इस क्षेत्र को क्षत्रियकुण्ड के स्थान पर वसुकुण्ड कहा जाने लगा। वर्तमान लछवाड़ के समीप जो ब्राह्मणकुण्ड और क्षत्रियकुण्ड की कल्पना की गई है वहां इस तरह की कोई वेबसाइट नहीं है। महना को ब्राह्मणकुण्ड भी नहीं माना जा सकता। ब्राह्मणकुण्ड और क्षत्रियकुण्ड नाम तो उन्हें महावीर के जन्मस्थल मान लेने पर दिये गये हैं। इस प्रकार मेरी यह सुनिश्चित धारणा है कि लछवाड़ के समीप जमुई मण्डल के इस क्षेत्र का संबंध महावीर के साधना एवं केवलज्ञान स्थल से अवश्य रहा है। यह भी सत्य है कि जिसे वर्तमान में लछवाड़ है, उसका संबंध लिच्छविया से हो सकता है, किन्तु इस नाम की भी प्राचीनता कितनी है, यह शोध का विषय है। डॉ. प्रसाद का यह मानना समुचित नहीं है कि वैशाली को महावीर के जन्म स्थान के रूप में मान्यता 1948 में मिली। इसके पूर्व भी विद्वानों ने वैशाली के निकट और विदेह क्षेत्र में महावीर का जन्म स्थान होने की बात कही है। यह निश्चित है कि लगभग 15-16वीं शती से श्वेताम्बर परम्परा में लछवाड़ के समीपवर्ती क्षेत्र को महावीर के जन्म स्थान मानने की परम्परा विकसित हुई है। भगवान महावीर ने अर्धमागधी भाषा में अपना प्रवचन दिया था, इसलिये वे मगध क्षेत्र के निवासी होना चाहिए, ऐसी जो मान्यता लछवाड़ के पक्ष में दी जाती है, वह भी समुचित नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिये कि महावीर की भाषा मागधी न होकर अर्धमागधी है। यदि महावीर का जन्म और विचरण केवल मगध क्षेत्र में ही हुआ होता तो वे मागधी का ही उपयोग करते, अर्धमागधी का नहीं। अर्धमागधी स्वयं ही इस बात का प्रमाण है कि उनकी भाषा में मागधी के अतिरिक्त अन्य समीपवर्ती क्षेत्रों की भाषाओं एवं बोलियों के शब्द भी मिले हुए थे। मैं जमुई अनुमण्डल को महावीर का साधना स्थल एवं केवलज्ञान स्थल मानने में तो सहमत हूँ, किन्तु जन्म स्थल मानने में सहमत नहीं हूँ, अतः महावीर का जन्म स्थल वैशाली के समीप वर्तमान वासुकुण्ड ही अधिक प्रामाणिक लगता है। जैन समाज को उस स्थान के सम्यक् विकास हेतु प्रयत्न करना चाहिए।

सन्दर्भ :

1. समणे भगवं महावीरे नाए, नायपुत्ते, नायककुलचंदे, विदेहे, विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे विदेह सूमाले तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु-
कल्पसूत्र 110 (प्राकृत भारती संस्करण पृ. 160)
2. वहीं पृ. 160
3. णायसंडवणे उज्जागे जेणेव असोकवरपायवे - कल्पसूत्र 113
(प्राकृत भारती संस्करण पृ. 170)
एवं से उदाहु अणुत्तरणाणी अणुत्तरदसी अणुत्तरणाणदंसणघरे।
अरहा- णायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए॥ - सूत्रकृतांक 1/2/3/22
4. देखें- कल्पसूत्र 58, 67, 69 (प्रा. भा. सं. पृ. 96, 114 आदि)
5. देखें - बुद्धकालीन भारतीय भूगोल - भरतसिंह पृ. 313
6. कल्पसूत्र 119 (प्राकृत भारती संस्करण पृ. 184)
7. ज्ञातव्य है आचारांग सूत्र में भी दीक्षा ग्रहण करते समय महावीर यह निर्णय लेते हैं कि मैं सबके प्रति क्षमाभाव रखूंगा-- (सम्मं सहिस्सामि इवमिस्सामि)।
8. आचारांग 1/174, 5/55, 6/30
9. वही, 1/37, 68

डॉ. सागरमल जैन

35 ओसवालसेरी

शाजापुर (म.प्र.) 465 001

जैन धर्म में सम्यग्ज्ञान : स्वरूप और महत्व

— डॉ. फूलचन्द प्रेमी

धर्म में 'सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनों को एकत्र रूप में मोक्ष मार्ग का साधन माना गया है, अतः इन तीनों की समानता मोक्ष प्राप्ति में साधक है। मोक्षमार्ग में इन सभी का समान महत्व है। इन तीनों में से प्रस्तुत निबन्ध का प्रतिपाद्य-विषय सम्यग्ज्ञान है।

चैतन्य के प्रधान तीन रूप हैं—जानना, देखना और अनुभव करना। ज्ञान का इन सभी से सम्बन्ध है। सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान भी आत्मा का विशेष गुण है, जो 'स्व' एवं 'पर' दोनों को जानने में समर्थ है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है जो जाणदि सो णाणं' अर्थात् जो जानता है वही ज्ञान है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम की ध्वला टीका² में 'भूतार्थप्रकाशनं ज्ञानम्' अर्थात् सत्यार्थ का प्रकाश करने वाली शक्ति विशेष को ज्ञान कहा है। आचार्य पूज्यवाद ने 'जानाति ज्ञायते अनेन ज्ञातिमात्रं वा ज्ञानं' अर्थात् जो जानता है वह ज्ञान है। (कर्तृसाधन) जिसके द्वारा जाना जाये, वह ज्ञान है (करणसाधन) अथवा जानना मात्र ज्ञान है (भाव साधन)।³

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है— णाणस्स सारमायारो अर्थात् ज्ञान मनुष्य के लिये सारभूत है, क्योंकि ज्ञान ही हेयोपादेय को जानता है। सम्यग्दर्शनपूर्वक संयम सहित उत्तम ध्यान की साधना जब मोक्ष मार्ग के निमित्त की जाती है तब लक्ष्य की प्राप्ति में सम्यग्ज्ञान के महत्व का परिज्ञान होता है। जैसे धनुषविद्या के अभ्यास से रहित पुरुष बाण के सही निशाने को प्राप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष ज्ञान की आराधना के बिना मोक्षमार्ग के स्वरूप को नहीं पा सकता, क्योंकि संयम रहित ज्ञान और ज्ञान रहित संयम अकृतार्थ है अर्थात् ये मोक्ष को सिद्ध नहीं कर सकते।

वैसे आत्मा में अनन्त गुण हैं किन्तु इन अनन्त गुणों में एक ज्ञान गुण ही ऐसा है जो 'स्व-पर' प्रकाशक है जैसे दीपक अपने को भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार ज्ञान अपने को भी जानता है और अन्य पदार्थों को भी जानता है। इसी से ज्ञान गुण का सविकल्प (साकार) तथा शेष सब गुणों को निर्विकल्प (निराकार) कहा है। सामान्यतः निर्विकल्प का कथन करना शक्य नहीं है किन्तु ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जिसके द्वारा निर्विकल्प का कथन भी किया जा सकता है। इस तरह यदि ज्ञान गुण न हो तो वस्तु को जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं है, इसलिये ज्ञान की उपमा प्रकाश से दी जाती है। प्रकाश के अभाव रूप अन्धकार की जो स्थिति है वही स्थिति अज्ञान की है।

सम्यक् और मिथ्या : ज्ञान के दो रूप

आत्मा का गुण तो ज्ञान है किन्तु वह सम्यक् भी होता है और मिथ्या भी होता है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को मिथ्याज्ञान कहते हैं। यहाँ यह भी विशेष ध्यातव्य है कि जैनधर्म में जैसी वस्तु है उसे उसी रूप में जानने वाले को भी मिथ्या कहा है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि यदि वस्तु का स्वरूप जैसा का तैसा समझ और जान रहा है किन्तु वस्तु स्वरूप की यथार्थ प्रतीति नहीं होने से ऐसे मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भी यथार्थ नहीं माना जायेगा। जैनदर्शन पुस्तक (पृ. 188) में पं. महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य के शब्दों में "मिथ्यादर्शन वाले का व्यवहार सत्य-प्रमाण ज्ञान भी मिथ्या है और सम्यग्दर्शन वाले के व्यवहार में असत्य अप्रमाण ज्ञान भी सम्यक् है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि का प्रत्येक ज्ञान मोक्ष मार्गोपयोगी होने के कारण सम्यक् है और मिथ्या दृष्टि का प्रत्येक ज्ञान संसार में भटकने वाला होने से मिथ्या है। इस तरह जो ज्ञान हेय (त्याज्य) को हेय रूप में और उपादेय (ग्रहण योग्य) को उपादेय रूप में जानता है, वही सच्चा ज्ञान है किन्तु जो हेय को उपादेय और उपादेय को हेय रूप में जानता है वह ज्ञान कभी सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसे ज्ञान को मिथ्या कहा है।

ज्ञान के होते हुए भी जो अपने आत्मा का हित-अहित का विचार करके हित में नहीं लगा और अहित से नहीं बचा, उसका ज्ञान सम्यक् ज्ञान कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः मोह के एक भेद मिथ्यात्व का एक सहभावी ज्ञान भी मिथ्या कहलाता है। जब तक मिथ्या भाव दूर नहीं हो जाता, तब तक ज्ञान आत्मा को उसके हित में नहीं लगा सकता। अतः मिथ्यादृष्टि का यथार्थ ज्ञान भी अयथार्थ ही कहा जाता है। सम्यग्दर्शन के प्रकट होने के साथ ही पूर्व का मिथ्याज्ञान सम्यक हो जाता है और सम्यग्दर्शन के अभाव

में वही मिथ्या कहलाता है, इसलिये सम्यग्ज्ञान को 'कार्य' तथा सम्यग्दर्शन को 'कारण' कहा है, क्योंकि जब तक दृष्टि सम्यक् न हो, ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता। इसलिए सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान 'सम्यक्' होता है। ज्ञान के सम्बन्ध में जैन धर्म की यह मान्यता भी विशेष महत्व रखती है कि यहाँ ज्ञान के अभाव को अज्ञान ही कहा है। मिथ्याज्ञान को भी अज्ञान माना है। यहाँ इन दोनों में यह अन्तर विशेष द्रष्टव्य है कि जीव एक बार सम्यग्दर्शन रहित तो हो सकता है किन्तु ज्ञान रहित नहीं। किसी न किसी प्रकार का ज्ञान जीव में अवश्य रहता है। वही ज्ञान सम्यक्त्व का आविर्भाव होते ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

पुष्पदन्त भूतबलिकृत षट्खडागम की आचार्य वीरसेन कृत धवला टीका (पुस्तक 1 व 5) में इस विषय में प्रश्नोत्तर के माध्यम से अच्छा स्पष्टीकरण किया गया है जिसे प. कैलाश चन्द जी शास्त्री ने अपनी जैन सिद्धांत नामक पुस्तक (पृ. 163) में प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान भी भूतार्थ (सत्यार्थ) का प्रकाशक होने पर भी वे इसलिये अज्ञानी हैं, क्योंकि उनके मिथ्यात्व का उदय है। अतः प्रतिभाषित वस्तु में भी उन्हें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय होता है। इसलिये उन्हें 'अज्ञानी' कहा जाता है क्योंकि वस्तु स्वभाव का निश्चय कराने को 'ज्ञान' कहते हैं और शुद्धनय विवक्षा में सत्यार्थ के निर्णायक को ज्ञान कहते हैं, अतः मिथ्यादृष्टि 'ज्ञानी' नहीं है। साथ ही जाने हुए पदार्थ का श्रद्धान करना 'ज्ञान' का कार्य है, वह मिथ्यादृष्टि में नहीं है, इसलिये उनका ज्ञान 'अज्ञान' है। वस्तुतः जाने हुए पदार्थ में विपरीत श्रद्धा उत्पन्न कराने वाले 'मिथ्यात्व' के उदय के बल से जहाँ जीव में अपने जाने हुए पदार्थ में श्रद्धान उत्पन्न नहीं होता, वहाँ जो ज्ञान होता है वह अज्ञान कहलाता है, क्योंकि उसमें ज्ञान का फल नहीं पाया जाता है।

आचार्य वट्टकेर कृत शौरसेनी प्राकृत भाषा के श्रमणाचार विषयक प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ मूलाचार में ज्ञान का स्वरूप तथा इसके उद्देश्यों के विषय में सार रूप में बड़े प्रभावशाली रूप में कहा है कि

जेण तच्चं विबुद्धेज्ज, जेण चित्तं णिरुद्धादि।

जेण अत्ता विसुद्धेज्ज तं गाणं जिणसासणे ॥ 5/70

अर्थात् जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाये, जिससे मन की चंचलता रुक जाये, जिससे आत्मा भी विशुद्ध हो, जिससे राग के प्रति विरक्ति हो, कल्याण मार्ग में अनुराग हो और सब प्राणियों में मैत्री भाव हो, उसे ही जिनशासन में 'ज्ञान' कहा है। इसलिए मिथ्यात्व के सहचारी ज्ञान को मिथ्या या अज्ञान कहा जाता है।

ज्ञान के भेद

सिद्धांत ग्रन्थों में ज्ञान को मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल- इन पांच भेदों का जो विवेचन मिलता है वह ज्ञानावरण के क्षयोपशम या क्षय से प्रकट होने वाली ज्ञान की अवस्थाओं का विवेचन है। ज्ञानावरण कर्म का कार्य आत्मा के इस रूप ज्ञान गुण को रोकना है और इसी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के तारतम्य से पूर्वोक्त पांच में से आरम्भिक चार ज्ञान प्रकट होते हैं। ज्ञानावरण कर्म का सम्पूर्णतया क्षय होने पर निरावरण केवलज्ञान प्रकट होता है। इन्हीं पांच ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों के रूप में विभाजन किया गया है। वस्तुतः जिन तत्त्वों का श्रद्धान और ज्ञान करके मोक्ष मार्ग में जुड़ा जा सकता है उन तत्त्वों का अधिगम ज्ञान से ही तो सम्भव है। यही ज्ञान प्रमाण और नय के रूप में अधिगम के उपायों को दो रूप में विभाजित कर देता है। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र ने 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र कहा है।

तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी ने प्रमाण के अन्तर्गत ज्ञान की चर्चा करते हुए तीन सूत्र प्रस्तुत किए - तत्प्रमाणे आद्ये परोक्षं प्रत्यक्षमन्यत् - अर्थात् पूर्वोक्त पांच प्रकार का ज्ञान दो प्रमाण रूप हैं। प्रथम दो ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण हैं, शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा की योग्यता से उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है।

ज्ञान के इन पांच भेदों में से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, क्योंकि यह इन्द्रिय और मन के द्वारा होते हैं। शेष तीन ज्ञान अर्थात् अवधि, मनः, पर्यय और केवलज्ञान- ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। किन्तु इनमें भी अवधिज्ञान तथा मनः पर्ययज्ञान- ये दो देशप्रत्यक्ष हैं तथा एक मात्र केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। वस्तुतः जैनदर्शनानुसार ज्ञान जीव से भिन्न नहीं है। जीव चैतन्य स्वरूप है, चेतना ज्ञान दर्शन स्वरूप है। उस चैतन्य स्वरूप आत्मा में सब पदार्थों को प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही जानने - देखने की शक्ति सदा काल है। किन्तु अनादिकाल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मों के निमित्त से वह शक्ति व्यक्त नहीं हो पाती। इनके क्षयोपशम से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी जीवों के अपनी अपनी योग्यतानुसार होते हैं। विशेष योग्यता से अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान भी सम्भव है। वस्तुतः यह सब ज्ञान भी केवल ज्ञान के ही अंश हैं, क्योंकि ज्ञान गुण तो एक ही है, वही आवरण के कारण अनेक रूप होता है, पूर्ण आवरण हटने पर एक केवलज्ञान के रूप में प्रकाशमय होता है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी कषाय पाहुड़ की जयध्वला टीका के प्रारम्भ में मतिज्ञान आदि को केवलज्ञान का अंश माना है।

जीवों में एक साथ पाँच ज्ञान सम्भव नहीं है। अपितु एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर चार ज्ञान तक ही हो सकते हैं। एक ज्ञान होगा तो मात्र केवलज्ञान रहता है, क्योंकि वह निरावरण और क्षायिक है। इसके साथ अन्य चार सावरण और क्षायोपशिक ज्ञान नहीं रहते हैं। दो हो तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, तीन हो तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या मनः पर्ययज्ञान तथा चार हो तो मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय ज्ञान सम्भव हैं। इसलिये पाचों ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थसूत्र में कहा है- एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः अर्थात् एक जीव में एक साथ एक को आदि लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। पाँच ज्ञान एक साथ किसी भी जीव में सम्भव ही नहीं है। ज्ञान के पूर्वोक्त पाँच भेदों में क्रमशः प्रत्येक का स्वरूप इस प्रकार है :-

1. मतिज्ञान-

ज्ञान के पाँच भेदों में प्रथम मतिज्ञान है जो 'तदिन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तम् अर्थात् इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थों को जानना है, वह मतिज्ञान है। दर्शनपूर्वक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के क्रम से मतिज्ञान होता है। इस अभिनिबोधिक ज्ञान भी कहा जाता है। वस्तुतः मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाली मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध आदि मतिज्ञान की अवस्थाओं का अनेक रूप से विवेचन मिलता है। जो मतिज्ञान के विविध आकार और प्रकारों का निर्देशमात्र है। वह निर्देश भी तत्त्वाधिगम के उपयोगों के रूप में हैं, इसीलिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने कहा - 'मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् (1/13)

सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध - ये मतिज्ञान के ही नामान्तर इसलिये हैं, क्योंकि ये मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप अन्तरंग निमित्त से उत्पन्न हुए उपयोग को विषय करते हैं तथा मननं मतिः, स्मरणं स्मृतिः, संज्ञानं संज्ञा, चिन्तनं चिन्ता, अभिनिबोधनं अभिनिबोधः- इस प्रकार की व्युत्पत्ति की है। तदनुसार अतीत अर्थ के स्मरण करने या पहले अनुभव की हुई वस्तु का स्मरण 'स्मृति' है। पहले की हुई और वर्तमान में अनुभव की जाने वाली वस्तु की एकता 'संज्ञा' है अर्थात् 'यह वही है', यह उसके सदृश है, इस प्रकार का पूर्व और उत्तर अवस्था में रहने वाली पदार्थ की एकता सदृशता आदि ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। इसे ही दर्शन क्षेत्र में प्रत्यभिज्ञान इस नाम से जाना जाता है, क्योंकि यह अतीत और वर्तमान उभय विषयक है। भावी वस्तु की विचारणा या चिन्तन को 'चिन्ता' कहते हैं।

व्याप्ति के ज्ञान को भी चिन्ता कहा जाता है। अभिनिबोध भी मतिज्ञानबोधक एक सामान्य शब्द है। दार्शनिक क्षेत्र में इसे अनुमान शब्द से भी अभिहित किया जाता है, क्योंकि साधन से साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध या अनुमान कहा है।

मतिज्ञान के भेद-

मतिज्ञान के चार भेद हैं- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

1. अवग्रह-

विषय (ज्ञेय वस्तु) और विषयी (जानने वाले) का योग सामीप्य (सन्निपात अथवा संबंध) होने पर सर्वप्रथम दर्शन होता है। यह दर्शन वस्तु की सामान्य सत्ता का प्रतिभास मात्र करता है। इस दर्शन के पश्चात् जो अर्थ का ग्रहण होता है, वह अवग्रह कहलाता है इस तरह नाम, जाति आदि को विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान 'अवग्रह' कहलाया। जैसे गाढ़ अन्धकार में कोई वस्तु छू जाने पर यह ज्ञान होना कि 'यह कुछ है' अवग्रह में यह स्पष्ट मालूम नहीं होता है कि किस चीज का स्पर्श हुआ है, इसलिये अव्यक्त ज्ञान अवग्रह है।

2 ईहा-

अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिए जो विचारणा होती है, वह 'ईहा' है।

3 अवाय-

ईहा के द्वारा जाने हुए पदार्थ का विशेष निर्णय करने को 'अवाय' कहते हैं। इसमें विशेष चिह्न देखने से वस्तु का निर्णय हो जाता है कि 'यह अमुक वस्तु है'।

4 धारणा-

अवाय ही जब दृढतम अवस्था में परिणत हो जाता है तब उसे धारणा कहते हैं, क्योंकि इसमें व्यक्ति अवाय से निश्चय किए हुए पदार्थ को कालान्तर में भूलता नहीं है। धारणा को संस्कार भी कहते हैं। इस प्रकार अवग्रह में प्राथमिक ज्ञान, ईहा में विचारणा, अवाय में निश्चय तथा धारणा में इन्द्रिय ज्ञान की स्थितिशीलता (स्मृति) होती है। ये चारों द्रव्य की पर्याय को ग्रहण करते हैं, सम्पूर्ण द्रव्य को नहीं, क्योंकि इन्द्रिय और मन का मुख्य विषय पर्याय ही है। इन चारों की यह भी विशेषता है कि ये चारों क्षणभर में भी हो सकते हैं और अनेक काल के बाद भी हो सकते हैं।

5 श्रुतज्ञान-

मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ को मन के द्वारा उत्तरोत्तर विशेषताओं सहित जानने वाला श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है। इन दोनों का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। अतः मति और श्रुत- यह दोनों सहभागी ज्ञान हैं। एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते। ये दोनों प्रत्येक संसारिक जीव के होते हैं।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान का बहिरंग कारण है। अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है, क्योंकि किसी विषय का मतिज्ञान हो जाने पर भी यदि क्षयोपशम न हो तो उस विषय का श्रुतज्ञान नहीं हो सकता। फिर भी दोनों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा समान होने पर भी मति की अपेक्षा श्रुत का विषय अधिक है और स्पष्टता भी अधिक है।

श्रुतज्ञान का कार्य शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को पुनः शब्द के द्वारा प्रतिपादित करना। इसलिए इसके अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक रूप एवं अंग बाह्य तथा अंग प्रविष्ट दो भेद हैं। आचारांग सूत्रकृतांग आदि अंग आगम के रूप में इस श्रुतज्ञान के बारह भेद हैं -

उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुवाद, अस्ति नास्ति प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणानुवाद, प्राणवायुप्रवाद, क्रियाविशाल तथा लोकबिन्दुसार पूर्व - इन चौदह पूर्वों के रूप में ज्ञान के चौदह भेद भी हैं। इसलिए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम्-1/20 अर्थात् यह श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है तथा इसके दो, द्वादश एवं अनेक भेद होते हैं।

मन वाले जीव अक्षर सुनकर वाचक के द्वारा वाच्य का ज्ञान होना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है तथा बिना अक्षरों के द्वारा अन्य पदार्थ का बोध होना अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। यह एकेन्द्रिय आदि सभी जीवों के होता है। श्रुत का मनन या चिन्तनात्मक जितना भी ज्ञान होता है वह सब श्रुतज्ञान के अन्तर्गत है। यह रूपी, अरूपी दोनों प्रकार के पदार्थों को जान सकता है।

3. अवधिज्ञान-

भूत, भविष्यत काल की सीमित बातों को तथा दूर क्षेत्र की परिमित रूपी वस्तुओं को जानने वाला अवधिज्ञान होता है। अतः देशान्तरित, कालान्तरित और सूक्ष्म पदार्थों के

द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव को मर्यादा से जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। यह अवधि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होता है।

4 मनः पर्यय-

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही दूसरे के मन की अवस्थाओं (पर्यायों) का ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान है। सामान्य रूप में यह दूसरे के मन की बात को जानने वाला ज्ञान होता है। वस्तुतः चिन्तक जैसा सोचता है उसके अनुरूप पुद्गल द्रव्यों की आकृतियाँ पर्याय बन जाती हैं और इनके जानने का कार्य मनः पर्यय करता है। इसके लिए वह सर्वप्रथम मतिज्ञान द्वारा दूसरे के मानस को ग्रहण करता है, इसके बाद मनः पर्यय ज्ञान की अपने विषय में प्रवृत्ति होती है।

अवधि और मनः पर्यय :- ये दोनों ज्ञान आत्मा से होते हैं। इनके लिए इन्द्रिय और मन की सहायता आवश्यक नहीं है। यह दोनों रूपी द्रव्य के ज्ञान तक ही सीमित हैं, अतः इन्हें अपूर्ण प्रत्यक्ष कहा जाता है। अवधिज्ञान के द्वारा रूपी द्रव्य का जितना सूक्ष्म अंश जाना जाता है उससे अनन्त गुणा सूक्ष्म अंश मनः पर्यय के द्वारा जाना जाता है अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है किन्तु मनः पर्यय ज्ञान मनुष्यगति में, वह भी संयत जीवों को ही होता है। इस पंचम काल में अवधिज्ञान का होना तो यहाँ सम्भव भी है, किन्तु मनः पर्यय ज्ञान का होना दुर्लभ है। अवधि और मनः पर्यय की मोक्ष मार्ग में अनिवार्यता नहीं है, जबकि मति और श्रुतज्ञान अनिवार्य है।

5. केवलज्ञान -

समस्त पदार्थों की त्रिकालवर्ती पर्यायों को युगपत जानने वाला केवलज्ञान है। इसमें लोक-आलोक समस्त रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं। वस्तुतः आत्मा-ज्ञान स्वभाव है, अतः आत्मा समस्त आवरणों के समाप्त हो जाने पर अपने स्वभाव रूप हो जाता है और समस्त पदार्थों की त्रिकालवर्ती पर्यायों को एक साथ जानने लगता है। 'केवल' शब्द असहायवाची है। इसलिए जो इन्द्रिय और आलोक आदि किसी की अपेक्षा नहीं रखता है, वह केवलज्ञान है। इसके होने पर आत्मा परमात्मा रूप बनकर सर्वज्ञ हो जाता है। यह तो वह दिव्य ज्ञान है जिसमें नष्ट और अनुत्पन्न पर्याय भी प्रतिबिम्बित होती है, क्योंकि यह केवल ज्ञान ऐसे ही उत्पन्न नहीं होता अपितु तत्त्वार्थसूत्र (90/9) के अनुसार "मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्" अर्थात् मोहनीय कर्म का क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्म का क्षय होने पर केवल ज्ञान प्रकट होता है।

वस्तुतः इन चार प्रतिबन्धक कर्मों में से पहले मोक्ष का क्षय होता है और फिर

अन्तर्मुहूर्त्त में ज्ञानवरण,दर्शनावरण और अन्तराय- इन तीन कर्मों का क्षय हो जाता है। क्योंकि मोह सबसे बलवान है,अतः उसके क्षय के बाद ही अन्य कर्मों का क्षय सम्भव है। इन सबके क्षय होते ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है और वह जीव केवली अर्थात् सर्वज्ञ बन जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में कहा है-

**अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणांति ।
तेसिं परोक्खमूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥ ४० ॥**

अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान बहुत सीमित होता है, क्योंकि जो इन्द्रिय गोचर पदार्थ को अवग्रह, ईहा आदि के द्वारा जानते हैं उनके लिए परोक्षभूत अर्थात् जिसका अस्तित्व बीत गया अथवा जिसका अस्तित्वकाल अभी उपस्थित नहीं हुआ है, ऐसे अतीत, अनागत पदार्थ को जानना सम्भव नहीं हो सकता और जब अनुत्पन्न तथा नष्ट पर्याय जिस ज्ञान में प्रत्यक्ष न हो तो उस ज्ञान को दिव्य भी नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत केवल ज्ञान में यह दिव्यता है कि वह अनन्त द्रव्यों की (अतीत और अनागत) समस्त पर्यायों को सम्पूर्णतया एक ही समय प्रत्यक्ष जानता है। प. दोलतराम जी ने 'छहढाला' की निम्नलिखित दो पक्तियों में इसी बात को इस रूप में कहा है -

**सकल द्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता ।
जाने एकै काल प्रकट केवलि भगवंता ॥**

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं-

**ण परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्टेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ 52 ॥**

**गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं ।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥ 32 ॥**

अर्थात् केवल ज्ञानी आत्मा सर्वज्ञ पदार्थों को जानता हुआ भी उस रूप में परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और न उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न होता, इसलिए उस आत्मा के ज्ञप्ति क्रिया का सद्भाव होने पर भी वास्तव में क्रिया फलभूत बंध सिद्ध न होने पर उन्हें अबन्धक कहा गया है, क्योंकि केवली भगवान ज्ञेय पदार्थों को न ग्रहण करते हैं, न त्याग करते हैं और उन पदार्थों के रूप में परिणित नहीं होते, फिर भी निरवशेष रूप में सबको अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा एवं सभी ज्ञेयों को सभी आत्म प्रदेशों से देखते और जानते हैं।

वस्तुतः पदार्थ न ज्ञान के पास आते हैं, न ज्ञान पदार्थ के पास जाता है। जैसे दपर्ण के सामने जो भी पदार्थ हो वे एक दूसरे के पास गए बिना भी उसमें प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी तरह विश्व में जितने भी पदार्थ हैं वे सब ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं।

इस तरह जैन-धर्म-दर्शन में ज्ञान की स्वरूप विवेचना अति सूक्ष्म और गहन रूप में प्रस्तुत की गई है। इसलिए रत्नत्रय में सम्यग्ज्ञान को अति महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि ज्ञान रूपी प्रकाश ही ऐसा उत्कृष्ट प्रकाश है, जिसका हवा आदि कोई पदार्थ प्रतिघात (विनाश) नहीं कर सकता। सूर्य का प्रकाश तो तीव्र होते हुए भी अल्प क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किन्तु यह ज्ञान प्रदीप समस्त जगत् को प्रकाशित करता है अर्थात् समस्त वस्तुओं में व्याप्त ज्ञान के समान अन्य कोई प्रकाश नहीं है। इसलिए इसे द्रव्य स्वभाव का प्रकाशक कहा गया है। सम्यग्ज्ञान से तत्त्वज्ञान, चित्त का निरोध तथा आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है। ऐसे ही ज्ञान से जीव राग से विमुक्त तथा श्रेय में अनुरक्त होकर मैत्रीभाव से प्रभावित होता है। भगवती आराधना (गाथा 771) में कहा गया है कि ज्ञान रूपी प्रकाश के बिना मोक्ष का उपाय भूत चारित्र, तप, संयम आदि की प्राप्ति की इच्छा करना व्यर्थ है। इस तरह सम्यग्ज्ञान संसारी जीवों को अमृत रूप जल से तृप्त करने वाला होता है। इसलिए किसी भी साधक के लिए सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी आवश्यक है, तभी उसका चारित्र सम्यक् चारित्र की कोटि में माना है और ऐसा ही रत्नत्रय मोक्षमार्ग को प्रशस्त करता है।

जैन दर्शन विभागाध्यक्ष

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

निवास - अनेकान्त विद्या भवन

बी 23/45 पी.बी., शारदानगर कॉलोनी

खोजवाँ, वाराणसी - 221 010

जैन परम्परा में विनय की अवधारणा

– डॉ. अशोक कुमार जैन

जैन परम्परा में मोक्षमार्ग में विनय का प्रधान स्थान है। उपदेशामाला^१ में कहा गया है – विनय जिनशासन का मूल है। जो विनय रहित हैं उसे धर्म और तप कहीं से प्राप्त होगा। आचार्य वट्टकेर^२ के अनुसार विनयहीन व्यक्ति की सारी शिक्षा व्यर्थ है। शिक्षा का मूल विनय है। यह नहीं हो सकता है कि कोई व्यक्ति शिक्षित है और विनीत नहीं है। उनकी भाषा में शिक्षा का फल विनय और विनय का फल शेष समग्र कल्याण है। उत्तराध्ययन सूत्र^३ में कहा गया है कि जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है उसी प्रकार विनीत शिष्य धर्माचरण करने वालों के लिए आधार होता है। दशवैकालिक^४ के अनुसार जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करता है, आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ उनके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है तथा गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य है। विनय मानसिक दासता नहीं है किन्तु वह आत्मिक और व्यावहारिक विशेषताओं की अभिव्यञ्जना है। उसकी पृष्ठभूमि में इतने गुण समाहित रहते हैं— निर्द्वन्द्व – कलह आदि द्वन्द्वों की प्रवृत्ति का अभाव, ऋजुता-सरलता, मृदुता- निश्छलता और निरभिमानता, लाघव- अनासक्ति।^५ इस प्रकार आध्यात्मिक विकास में विनय की विशेष महत्ता है।

विनय का स्वरूप – 'विनय' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'नी नयने' धातु से निष्पन्न है। विनयतीति विनयः। विनयति के दो अर्थ होते हैं— दूर करना और विशेष रूप से प्राप्त कराना। जो अप्रशस्त कर्मों को दूर करता है और विशेष रूप से स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करता है वह विनय है। यह विनय जिनवचन के ज्ञान को प्राप्त करने का फल है और समस्त प्रकार के कल्याण इस नियम से ही प्राप्त होते हैं, अतः इसे अवश्य करना चाहिए।^६

जैन आगमों में 'विनय' का प्रयोग आचार तथा उसकी विविध धाराओं के अर्थ

में हुआ है। विनय का अर्थ केवल नम्रता ही नहीं है। नम्र भाव आचार की एक धारा है, पर विनय को नम्रता में ही बांध दिया जाये तो उसकी सारी व्यापकता नष्ट हो जाती है। **मूलाचार** में लिखा है - ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप के अतिचार रूप अशुभ क्रियाओं से निवृत्ति का नाम विनय है।⁷ **आचार्य पूज्यपाद** के अनुसार 'पूज्येष्वदारो विनयः'⁸ अर्थात् पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है। धवला⁹ में लिखा है 'रत्नत्रयवत्सु नीचैवृत्ति विनयः' अर्थात् रत्नत्रय को धारण करने वाले पुरुषों के प्रति नम्र वृत्ति धारण करना विनय है। **आचार्य कुन्दकुन्द**¹⁰ ने लिखा है - जो उत्तम पुरुष है, वे उत्तम पात्र को देखकर अभ्युत्थान इत्यादि उत्तम पात्र की क्रियाओं कर प्रवर्ते, क्योंकि उत्तम गुण होने से आदर, विनयादि विशेष करना योग्य है। इस लोक में निश्चयकर अपने से अधिक गुणों सहित महापुरुषों के लिए सामने आते हुए देखकर, उठकर खड़ा होकर सामने जाना, बहुत आदर से आइये, आइये ऐसे उत्तम वचनों से अंगीकार कर सेवा करना। अन्न पानादि से पोषणा, गुणों की प्रशंसा कर उत्तम वचन कहना, विनय से हाथ जोड़ना और नमस्कार करना योग्य है। **भगवती आराधना** में वर्णन है - अशुभ क्रियायें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप के अतिचार हैं। इनका हटाना विनय तप है।

चारित्रसार के अनुसार - कषायों और इन्द्रियों को नम्र करना विनय है।¹² **सागार धर्माभूत** में लिखा है कि मुमुक्षुजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र तथा सम्यगतप के दोष दूर करने के लिए जो कुछ प्रयत्न करते हैं, उसको विनय कहते हैं और इस प्रयत्न में शक्ति को न छिपाकर शक्त्यनुसार उन्हें करते रखना विनयाचार है।¹³

विनय के भेद - जैनधर्म वैनयिक (नमस्कार, नम्रता को) सर्वोपरि मानकर चलने वाला नहीं है। वह आचार प्रधान है। सुदर्शन ने थावच्चापुत्त अणगार से पूछा- भगवन्! आपके धर्म का मूल क्या है? थावच्चापुत्त ने कहा - सुदर्शन! हमारे धर्म का मूल विनय है। वह विनय दो प्रकार का है- 1. आगार विनय, 2. अणगार विनय। पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और ग्यारह उपासक प्रतिमायें - यह आगार-विनय है। पांच महाव्रत, अठारह पाप-विरति, रात्रि-भोज विरति, दशविध प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु प्रतिमायें- यह अणगार विनय है।¹⁴ **तत्त्वार्थसूत्र** में विनय को अन्तरंग तप में परिगणित किया है और उसके ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय, ये चार भेद निरूपित किये गये हैं।¹⁵ मूलाचार में विनय के पांच भेद प्रतिपादित किये गये हैं- वे हैं लोकानुवृत्ति विनय, अर्थनिमित्तक विनय, कामतन्त्र विनय, भयविनय और मोक्ष विनय।

लोकानुवृत्ति विनय - आसन से उठना, हाथ जोड़ना, आसन देना, पाहुणगति करना, देवता की पूजा अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार करना, ये सब लोकानुवृत्ति विनय हैं। किसी पुरुष के अनुकूल बोलना तथा देश व काल योग्य अपना द्रव्य देना यह भी लोकानुवृत्ति विनय है।

अर्थ निमित्तक विनय - अपने प्रयोजन के लिए स्वार्थवश हाथ जोड़ना आदि अर्थ- निमित्तक विनय है।

कामतन्त्र विनय - कामपुरुषार्थ के निमित्त विनय करना कामतन्त्र विनय है।

भय-विनय- भय के कारण विनय करना भय विनय है।

मोक्ष विनय- मूलाचार में विनय को मोक्ष का द्वार कहा गया है।¹⁷

औपपातिक सूत्र में विनय के सात प्रकार बतलाए हैं। उनमें सातवां प्रकार उपचार विनय है। उक्त श्लोक में उसी की व्याख्या है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वाणी और काय का विनय, ये छह प्रकार शेष रहते हैं। इन सबके साथ विनय की संगति उद्धत भव के त्याग के अर्थ में होती है। उद्धत भाव और अनुशासन का स्वीकार, ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। आचार्य और साधना के प्रति जो नम्र होता है वही आचारवान बन सकता है। इस अर्थ में नम्रता आचार का पूर्ण रूप है। विनय के अर्थ की व्यापकता की पृष्ठभूमि में यह दृष्टिकोण अवश्य रहा है।

वसुनन्दि श्रावकाचार में पंच प्रकार की विनय के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा प्राप्त होती है जो इस प्रकार है-

दंसण-गाण चरित्ते तव उवयारम्मि पंचहा विणओ।

पंचमगइगमणत्थ कायव्वो देसविरएण ॥ 320 (2)

दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय, ये पांच प्रकार की विनय पंचम गति गमन अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए श्रावक को करना चाहिए।

णिस्संकिअ-संवेगाइ जे गुण वणिणए मए पुच्चं।

तेसिमणुपालणं जं वियाण सो दंसणो विणओ ॥ 321 (1)

निःशङ्कित, संवेग आदि गुणों के परिपालन को दर्शन विनय जानना चाहिए।

णाणे णाणुवयरणे य णाणवंतम्मि तह य भत्तीए।

जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाणविणओ हु ॥ 322 (2)

ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि में तथा ज्ञानवंत पुरुष में भक्ति के साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है वह ज्ञान विनय है।

पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वणिणया तस्स।

जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्तविणओ सो ॥ 323 ॥

परमागम में पांच प्रकार का चारित्र और उसके जो अधिकारी या धारण करने वाले वर्णन किये गये हैं, उनके आदर-सत्कार को चारित्र विनय कहते हैं।

बालो यं बुद्धो यं संकप्पं वज्जिऊण तवसीणं।

जं पणिवायं कीरइ तवविणयं त वियाणीहि ॥ 324 (3)

यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकार का संकल्प छोड़कर तपस्वी जनों का जो प्रतिपात अर्थात् आदरपूर्वक वंदन किया जाता है, उसे तप विनय कहते हैं।

उवयारिओ वि विणओ मण-वचि-काएण होइ तिवियप्पो।

सो पुण दुविहो भणिओ पच्चक्ख परोक्खभेएण ॥ 325 (4)

औपचारिक विनय भी मन, वचन, काय के भेद से तीन प्रकार का होता है और वह तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। प्रत्यक्ष विनय का वर्णन निम्न है-

मानसिक विनय - जो मन छोटे परिणामों को हटाकर शुभयोग में स्थापन करता है उसे मानसिक विनय कहा है।

वाचिक विनय - हित, मित, पूज्य, शास्त्रानुकूल तथा हृदय पर चोट नहीं करने वाले कोमल वचन कहना और संयमी जनों में नम्र भाषण करना वाचिक विनय है।

कायिक विनय - साधु और श्रावकों का कृतिकर्म अर्थात् वन्दना आदि करना, उन्हें देखकर खड़े होना, नमस्कार करना, अञ्जलि जोड़ना, आसन और उपकरण देना, अपनी ओर आते देखकर उनके सन्मुख जाना और जाने पर उनके पीछे चलना, उनके शरीर के अनुकूल मर्दन करना, समय के अनुसार अनुकरण का आचरण करना, संस्तर आदि करना, उनके उपकरणों का प्रतिलेखन करना इत्यादिक कायिक विनय है। यह कायिक विनय जिन वचन का अनुकरण करने वाले देशविरति श्रावक को यथायोग्य करना चाहिए।

गुरु के बिना अर्थात् गुरुजनों के नहीं होने पर भी उनकी आज्ञा के अनुसार मन, वचन और काय से जो अनुवर्तन किया जाता है वह परोक्ष विनय है।¹⁹

आचारांग सूत्र में ज्ञानादि विनय के प्रसंग में कहा है- जैसे विहगपोत अपने माता-पिता की इच्छा का पालन करता है वैसे ही शिष्य ज्ञानी गुरुजनों की आज्ञा का पालन करें।²⁰ जो शिष्य प्रब्रज्या ग्रहण कर तीर्थङ्करों की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, वे अरति का अपनयन करते हैं अथवा वे ही मुनि अरति का अपनयन कर सकते हैं जो आज्ञा में चल सकते हैं। जैसे- बच्चा - द्विजपोत माता-पिता के द्वारा पालित-पोषित होता है और धीरे-धीरे उड़ने में समर्थ हो जाता है ठीक उसी प्रकार शिष्य पहले गुरु के निर्देशन में साधना करता है फिर स्वतन्त्र एकल विहार आदि प्रतिमा को धारण करने में समर्थ हो जाता है। इस क्रम में दिन-रात क्रमानुसार शिक्षित शिष्य योग्य हो जाते हैं।²¹ विनीत शिष्य उन पराक्रमी और प्रज्ञावान गुरुजनों के द्वारा दिन रात शिक्षित किये जाते हैं।²² विनीत शिष्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र में निष्णात हो जाते हैं।

मूलाचार में ज्ञान सम्बन्धी विनय के आठ प्रकार बताये गये हैं। वे हैं- काल, उपधान, बहुमान, अनिहव, व्यञ्जन, अर्थ और तदुभय। द्वादशाङ्ग और चतुर्दश पूर्वों को कालशुद्धि से पढ़ना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन - पुनरावृत्ति काल विनय है। उन्हीं ग्रन्थों का हाथ-पैर धोकर पर्यङ्कासन से बैठकर अध्ययन करना विनय शुद्धि नाम का ज्ञान विनय है। नियम विशेष लेकर पढ़ना उपधान है। जो ग्रन्थ पढ़ते हैं और जिनके मुख से सुनते हैं उस पुस्तक और उन गुरु इन दोनों की पूजा करना और उनके गुणों का स्तवन करना बहुमान है। उनका नाम कीर्तित करना अर्थात् उस ग्रन्थ या गुरु के नाम को नहीं छिपाना अनिहव है। शब्दों को शुद्ध पढ़ना व्यञ्जन शुद्ध विनय है। अर्थ शुद्ध करना अर्थशुद्ध विनय है और इन दोनों को शुद्ध रखना व्यञ्जनार्थ उभय शुद्ध विनय है।²³

विनय धारण का प्रयोजन - विनय का व्यावहारिक फल है कीर्ति और मैत्री। विनय करने वाला अपने अभिमान का निरसन, तीर्थङ्कर की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन करता है। जिस प्रकार भूमि में बीज बोने के पहले उसे हल चलाकर कोमल बनाते हैं उसी प्रकार मनोभूमि का क्षमा के द्वारा कर्षण कर समस्त प्रकार के मान को दूर कर कोमल बनाते हैं। कषाय के दो मूल स्थान हैं- ममकार और अहंकार। अहंकार के विसर्जन के बिना दृष्टि में समीचीनता नहीं आ सकती, क्योंकि जो मद से गर्वित चित्त होता हुआ रत्नत्रय धर्म में स्थित अन्य जीवों को तिरस्कृत करता है वह अपने धर्म को तिरस्कृत करता है, क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता है।²⁵ **दशवैकालिक**

में लिखा है कि अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति होती है, ये दोनों जिसे ज्ञात है, वही शिक्षा को प्राप्त होता है।²⁶ व्यावहारिक जीवन में विनयवान व्यक्ति ही पूज्यता को प्राप्त करते हैं तथा परमार्थ में भी विनयवान व्यक्ति ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है-

**विणाणुण ससंकुज्जलज सोह धवलियदियंतओ पुरिसो।
सव्वत्थ हवइ सुहओ तहेव आदिज्जवयणो य ॥ 332**

विनय से पुरुष शशाङ्क (चन्द्रमा) के समान उज्ज्वल यशःसमूह से दिगन्त को धवलित करता है। विनय से वह सर्वत्र सुभग अर्थात् सब जगह सबका प्रिय होता है और तथैव आदेयवचन होता है अर्थात् उसके वचन सब जगह आदरपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं।

संसार में देवेन्द्र, चक्रवर्ती और माण्डलिक राजा आदि के जो सुख प्राप्त हैं वह सब विनय का ही फल है और इसी प्रकार मोक्ष का सुख पाना भी विनय का ही फल है। जब साधारण विद्या भी विनय-रहित पुरुष के सिद्धि को प्राप्त नहीं होती है, तो फिर क्या मुक्ति को प्राप्त कराने वाली विद्या विनय विहीन के सिद्ध हो सकती है अर्थात् कभी नहीं सिद्ध हो सकती।²⁷ विनयप्रता मुक्ति का सोपान है। सोलह कारण भावनाओं में भी विनय को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसकी पूजन की जयमाल में लिखा है-

विनय महाधरै जो प्राणी, शिव-वनिता की सखी बखानी।

जिस प्रकार जल रहित नदी सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार विनय और प्रशम के बिना व्यक्तियों के कुल, रूप, वचन, यौवन, धन, मित्र, ऐश्वर्य, रूप, सम्पदायें भी सुशोभित नहीं होती। श्रुत और शील जिसकी मूल कसौटी है, ऐसा विनय युक्त मनुष्य जिस प्रकार सुशोभित होता है, वैसा बहुमूल्य वस्त्र और आभरण से अलंकृत व्यक्ति भी सुशोभित नहीं होता।²⁸ अतः ऐहिक और पारलौकिक अभ्युत्थान में विनय का अतिशय महत्त्व है।

सन्दर्भ :-

1. विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तओ ॥ उपदेशमाला 341
2. विणएण विप्पहीणस्स, हवदि सिक्खा सव्वा णिरत्थिया ।
विणओ सिक्खाए फलं, विणय फलं सव्व कल्लाणं ॥ मूलाचार 5/213
3. “हवइ किच्चाणं सरण भूयाणं जगई जहा’ ॥ उत्तराध्ययन 1/45
4. आयारमट्ठा विणयं पउंजे, सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंरवमाणो गुरु तु नासाययई स पुज्जो ॥ दशवैकालिक 9/3-2
5. आयार जीदकप्पगुणदीवणा, अत्तसोधि णिज्जजा ।
अज्जवमहवलाहव भत्ती पल्हादकरणं च ॥ मूलाचार 387
6. यद्विनयत्यपनयति च कर्मासत्तं निराहुरिह विनयम् ।
शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययं कृत्यः ॥ अनगार धर्मांमृत 7/61
7. मूलाचार गाथा 364
8. सर्वार्थसिद्धि 9/20
9. धवला 13/5/426
10. दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्टाणप्पधान किरिया हिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥
अब्भुट्टाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं च ॥ प्रवचनसार 3/61,62
11. ज्ञानदर्शन चारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रियाः । तासामपोहनं विनयः ॥
भगवती आराधना 6-32/23
12. कषायेन्द्रिय विनयनं विनयः - चारित्रसार 147/5
13. सुट्टडनिवृत्ततपसां मुमुक्षोनिर्मलीकृतौ ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषुतु ॥ 7/65
14. ज्ञातृधर्मकथाङ्ग 5
15. ज्ञान दर्शनचारित्रोपचाराः - तत्त्वार्थसूत्र 9/23
16. लोकाणुवित्तिविणओ अत्थणिमित्ते य कामतंते य ।
भयविणओ उऽचउत्थो पंचमओ मोक्खविणओ य ॥ मूलाचार 580
17. विणओ मोक्खद्दार - गाथा 386

18. दसवेआलियं - नवम अध्ययन-आमुख
19. वसुनन्दि श्रावकाचार 326-331
20. आचारांग सूत्र 6/74
21. आचारांग सूत्र 6/75
22. वही 6/76
23. काले विणए उवहाणे, बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वंजण अत्थतदुभयं विणओ णाणमिह अट्ठविहो ॥ मूलाचार 267
24. कित्ती मित्ती माणस्स भंजण गुरुजणे य बहुमाणं।
तित्थयरारणं आणा गुणाणुमोदो य विणय गुणा। वही 288
25. स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान गर्विता शयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकविना ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार 26
26. अध्ययन 9/21
27. वसुनन्दि श्रावकाचार 334, 335
28. प्रशमरति प्रकरण श्लोक 67, 68

विभागाध्यक्ष

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनू (राजस्थान)

त्रिगुण का आधार : विकास की यात्रा

— समणी मंगलप्रज्ञा

भारतीय दर्शन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है — वैदिक और अवैदिक। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त-मीमांसक, ये छह वैदिक दर्शन हैं तथा जैन, बौद्ध एवं चार्वाक — ये तीन अवैदिक दर्शन हैं। सांख्य वैदिक धारा का मुख्य दर्शन है।

सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति —

सांख्य दर्शन का नामकरण संख्या अथवा ज्ञान के आधार पर हुआ है, ऐसा विद्वानों का अभिमत है। सांख्य शब्द गणना एवं ज्ञान — दोनों का वाचक है। सांख्य के विद्वान् तत्त्वों की गणना करते हैं, अतः इसे सांख्य कहते हैं — “संख्यायन्ते तत्त्वानि येन तत् सांख्यम्” सम्यक् प्रकार से ज्ञान अर्थात् प्रकृति-पुरुष का विवेकात्मक जो विशिष्ट ज्ञान है वह सांख्य है — “सम्यक् ख्यानं ज्ञानं संख्यैव सांख्यं प्रकृति-पुरुष विवेकात्मकं विशिष्टं ज्ञानम्”। देवतीर्थ स्वामी के अनुसार क्रमपूर्वक विचारणा सांख्य है तथा उसके आधार पर लिखे गए शास्त्र को सांख्य कहते हैं — “सम्यक् क्रमपूर्वकं ख्यानं कथनं यस्याः सा सांख्या क्रमपूर्वकविचारणा, तामधिकृत्य कृतं शास्त्रं सांख्यम्”।

सांख्य स्वीकृत तत्त्व —

सांख्य दर्शन में मूल दो तत्त्व माने गए हैं — प्रकृति एवं पुरुष। ये दोनों तत्त्व अनादि हैं। “प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धानादी उभावपि” (गीता-13/19)। इन दो तत्त्वों का विस्तार करने पर तत्त्व की संख्या पच्चीस हो जाती है। पुरुष का कोई विस्तार नहीं होता। विस्तार प्रकृति का होता है। प्रकृति का ही विस्तार महत्, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्रा और पंचभूत — ये 23 तत्त्व हैं तथा इनमें प्रकृति एवं पुरुष को मिला देने से तत्त्वों की संख्या पच्चीस हो जाती है। सांख्यकारिका में इन पच्चीस तत्त्वों को चार भागों में

विभक्त किया गया है — 1. केवल प्रकृति, 2. केवल विकृति, 3. प्रकृति और विकृति — उभयरूप, 4. न प्रकृति, न विकृति — अनुभय रूप (पुरुष)।¹

प्रकृति — जो केवल कारण होती है। **विकृति** — जो केवल कार्य होती है। **उभय** — जो कारण एवं कार्य दोनों होते हैं। **अनुभय** — जो न किसी से उत्पन्न होता है, न ही किसी को उत्पन्न करता है। प्रकृति केवल कारण है। यह किसी से पैदा नहीं होती किन्तु दूसरों को पैदा करती है। “प्रकरोतीति प्रकृतिः” इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृति महदादि तत्त्वों का मूल कारण है, अतः इसे मूल प्रकृति भी कहा जाता है। मूलप्रकृति एक ही है एवं वह अनादि है।

महत् (बुद्धि) अहंकार एवं पांच तन्मात्रा — ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति उभय रूप हैं। ये स्वयं दूसरों से पैदा होते हैं, अतः विकृति है तथा इन्द्रिय, मन आदि को पैदा करते हैं, अतः प्रकृति भी हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन एवं पांच भूत — ये सौलह तत्त्व विकृति (कार्य) हैं। ये उत्पन्न तो होते हैं किन्तु किसी दूसरे तत्त्व को उत्पन्न नहीं करते। पुरुष न तो किसी की प्रकृति है और न ही विकृति। इसलिए वह दोनों से भिन्न है। इन पच्चीस तत्त्वों को तीन विभागों में भी विभक्त किया जाता है — अव्यय, व्यक्त एवं ज्ञ प्रकृति को अव्यक्त, महत् से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तेईस तत्त्वों को व्यक्त एवं पुरुष को ज्ञ कहा जाता है। सांख्य सम्मत उपर्युक्त तत्त्वों को निम्न तालिका से समझा जा सकता है —

विभाग	स्वरूप	तत्त्व का नाम	संख्या	संज्ञा
1.	केवल प्रकृति	प्रकृति	1	अव्यक्त
2.	प्रकृति और विकृति (उभयरूप)	महत् अहंकार पाँच तन्मात्रा	7	
3.	केवल विकृति	पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन पाँच भूत	16	व्यक्त 23
4.	प्रकृति एवं विकृति से भिन्न (अनुभयरूप)	पुरुष	1	ज्ञ
कुल योग			25	25

सृष्टि का आधारभूत तत्त्व

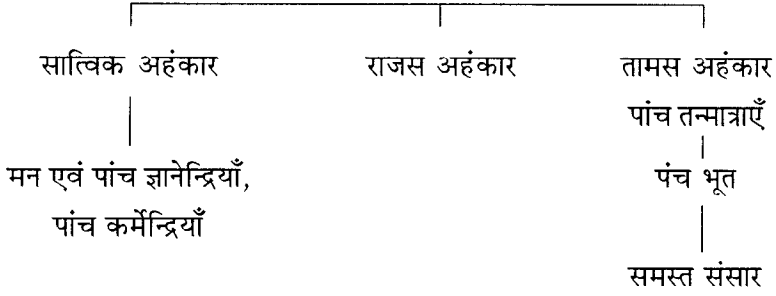
सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष चेतन, त्रिगुणातीत एवं अपरिणामी है। प्रकृति जड़, त्रिगुणात्मिका एवं परिणामी है।³ सृष्टि का सारा विस्तार प्रकृति के कारण ही है। प्रकृति से ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है।⁴ सृष्टि की आदि और विलय के अन्त में केवल एक प्रकृति ही शेष रहती है। सांख्य के सिद्धान्तानुसार सृष्टि के कार्य में पुरुष का किञ्चित् मात्र भी हस्तक्षेप नहीं होता है। पुरुष के सान्निध्य से जड़-प्रकृति ही सृष्टि का निर्माण करती है। पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति के गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है और सृष्टि उत्पन्न हो जाती है। गुणक्षोभ सृष्टि का कारण है।⁵

सांख्य सम्मत तत्त्वों का विकास क्रम

चेतन पुरुष के संयोग से जड़ात्मिका प्रकृति में जो प्रथम विकार उत्पन्न होता है, उसे महत् तत्त्व कहते हैं। महत् का ही दूसरा नाम बुद्धि है। महत्तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। गुणों के वैशिष्ट्य से अहंकार भी तीन प्रकार का हो जाता है— सात्त्विक, राजस एवं तामस। सात्त्विक अहंकार से मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ— ये ग्यारह तत्त्व पैदा होते हैं एवं तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। पाँच तन्मात्राओं से पाँच भूत उत्पन्न होते हैं तथ पंच भूतों से सारा संसार उत्पन्न होता है।

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब सात्त्विक एवं तामस अहंकार से ही सभी कार्य उत्पन्न हो जाते हैं तब राजस अहंकार को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए कहा गया कि यद्यपि राजस अहंकार का कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं है, फिर भी उसे मानना आवश्यक है, क्योंकि सत्त्वगुण एवं तमोगुण समर्थ होने पर भी क्रियाशील नहीं है, अतः स्वयं अपने कार्यों में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं। रजोगुण उनको अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है, अतः सत्त्वगुण और तमोगुण में क्रिया उत्पन्न करने के कारण राजस अहंकार का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। इसलिए ही राजस अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ एवं पाँच तन्मात्रा— दोनों की उत्पत्ति मानी जाती है।⁶ सांख्य के सृष्टि-क्रम को निम्नलिखित तालिका से समझा जा सकता है—

1. पुरुष (उदासीन)
2. प्रकृति (त्रिगुण की साम्यावस्था)
3. महत् (बुद्धि) (त्रिगुणात्मक)
4. अहंकार (त्रिगुणात्मक)



सृष्टि एवं लय—

सांख्य के अनुसार सृष्टि एवं लय दोनों प्रकृति के ही होते हैं। लय का क्रम सृष्टिक्रम से ठीक विपरीत है। सृष्टि के समय जो तत्त्व जिस कारण से उत्पन्न होते हैं, लय के समय वे तत्त्व उसी अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। जैसे पाँच महाभूत अपनी-अपनी तन्मात्रा में विलीन होंगे। तन्मात्राओं का लय तामस अहंकार में एवं मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं पाँच कर्मेन्द्रियों का विलय सात्त्विक अहंकार में, अहंकार का महत् तत्त्व में एवं महत् तत्त्व का विलय प्रकृति में होगा। त्रिगुण की साम्यावस्था में लय तथा विक्षोभावस्था में सृष्टि होती है।

प्रकृति का विकास इसकी अपनी तीन घटक शक्तियों अर्थात् तीन गुणों से होता है। प्रकृति एक त्रिगुणात्मक (तीन लड़ों वाली) रस्सी है। गुण प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं किन्तु इनके कार्यों द्वारा इनके अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। बुद्धि में सुख, दुःख में सम्मोह—ये गुण पाए जाते हैं। बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न होती है, प्रकृति बुद्धि का कारण है। बुद्धि प्रकृति का कार्य है। अतः जो गुण बुद्धि में पाए जाते हैं वे गुण इसकी कारण रूप प्रकृति में अवश्य ही होने चाहिए।

संसार के समस्त पदार्थों का सृजन इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति से होता है। संसार के समस्त पदार्थों में प्रधान एवं गौण रूप से ये तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं।

तीन गुणों का स्वरूप

गुण तीन हैं—सत्त्व, रजस एवं तमस। सत्त्व गुण सुखात्मक एवं प्रकाशक है। रजोगुण दुःखात्मक एवं प्रवर्तक है तथा तमोगुण मोहात्मक एवं नियामक (अवरोधक) है। जैसा कि—

“प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थः”

सत्त्व गुण से ज्ञानादि का प्रकाश, रजोगुण से विभिन्न कार्यों में प्रवृत्ति तथा तमोगुण से कार्य करने में आलस्य होता है, उत्साह नहीं होता। इनमें प्रत्येक गुण दूसरे दो गुणों को दबाकर अपना कार्य करते हैं, इसलिए परस्पर अभिभववृत्ति वाले हैं। प्रत्येक गुण अपने कार्य के लिए दूसरों का सहारा लेकर प्रवृत्त होते हैं, अतः उनमें अन्योन्याश्रयवृत्ति है। ये तीनों गुण संसार के सभी कार्यों के जनक हैं। ये गुण स्त्री-पुरुष के समान आपस में मिलकर कार्य करने वाले हैं, इसीलिए इन्हें अन्योन्यमिथुन वृत्ति कहा गया है —

‘अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः’⁸

संसार की प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रज एवं तम। ये तीनों गुण पृथक्-पृथक् नहीं रहते, हमेशा एक साथ रहते हैं —

**सत्त्वं न केवलं क्वापि न रजो तमस्तथा ।
मिलिताश्च तदा सर्वे तेनान्योन्याश्रया स्मृताः ॥**

इन गुणों की यह विशेषता है कि जब एक गुण बलवान होता है तब अन्य दो गुण दुर्बल हो जाते हैं किन्तु रहते साथ में ही हैं, अतः संसार की प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है एवं प्रतिक्षण इनमें परिणमन भी होता है, इसीलिए एक ही स्त्री सत्त्वगुण के कारण पति को सुख देने वाली, अपनी सौतन को दुःख देने वाली तथा अन्य कामी पुरुषों में मोह को उत्पन्न करने वाली बन जाती है।

सत्त्वगुण लघु एवं प्रकाशक है, क्योंकि सत्त्वगुण के आधिक्य से शरीर में हल्कापन एवं इन्द्रियों को अपने-अपने विषय का शीघ्र ज्ञान हो जाता है —

**लघुप्रकाशकं सत्त्वं निर्मलं विशदं तथा ।
यदाङ्गानि लघून्येव नेत्रादीनीन्द्रियाणि ॥
निर्मलं च तथा चेतो गृह्णाति विषयान् स्वकान् ।**

इसका धर्म सुख है। सांख्याचार्यों ने लघुत्व एवं प्रकाशत्व को सत्त्वगुण का लक्षण बताया है। **सत्त्वं लघुप्रकाशकम्**।⁹ रजोगुण से कार्य करने में प्रवृत्ति होती है, अतः उपष्टम्भक (प्रवर्तक) एवं चंचलता को रजोगुण का लक्षण माना गया है। **उपष्टम्भकं चलं च रजः**।¹⁰ तमोगुण से शरीर एवं इन्द्रियों में भारीपन और ज्ञान में रुकावट आ जाती है, अतः सांख्यदर्शन में तमोगुण को गुरु एवं आवरक (प्रतिबन्धक) माना गया है — **गुरुवरणकमेव तमः**।¹¹ यद्यपि ये तीनों गुण एक-दूसरे के विरोधी हैं, फिर भी जिस

प्रकार तैल, वर्तिका एवं अग्नि परस्पर विरुद्ध होने पर भी अन्धकार का नाश करने के लिए एक साथ मिलकर प्रकाश रूप कार्य को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही तीनों गुण मिलकर के कार्य करते हैं।

जैसा कि स्पष्ट हो चुका है कि सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष अकर्ता है। वह मात्र साक्षी रूप है। सारा कर्तृत्व प्रकृति का है। संसार के सम्पूर्ण पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। बुद्धि, मन, शरीर, इन्द्रिय एवं सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ प्रकृति से ही निष्पन्न हैं। अतः इन सबमें प्रधान एवं गौण रूप से तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं। जिस पदार्थ में जिस गुण की प्रधानता होती है, उसे उस गुण का कार्य माना जाता है। वस्तुतः जिस समय सत्त्व गुण प्रधान होता है, उस समय गौण रूप से अन्य दो गुण रज एवं तम भी वहाँ ही रहते हैं, यही स्थिति सभी गुणों की है। एक की प्रधानता में अन्य दो गौण हो जाते हैं।

आत्म-बंधकारक

अविद्या से आक्रांत पुरुष प्रकृति के गुणों से बंधा रहता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को संबोधित करते हुए कहते हैं —

हे अर्जुन! सत्त्व, रज और तम प्रकृति से उत्पन्न ये तीनों गुण अविनाशी आत्मा को शरीर में बांधते हैं।¹²

जीव को सत्त्व गुण सुख की आसक्ति तथा ज्ञान के बंधन से बांधता है, तृष्णा से उत्पन्न रागात्मक रजोगुण कर्म की आसक्ति से तथा अज्ञान एवं मोह से प्रादुर्भूत तमोगुण प्रमाद, आलस्य एवं निद्रा से जीव को बाँधता है।¹³

गुण : प्रधानता-गौणता

किस समय कौन-सा गुण प्रधान है, इसका अनुमान उस गुण के कार्यों के द्वारा लगाया जा सकता है। यथा — जब शरीर में सब द्वारों से अर्थात् इन्द्रिय और मन आदि से प्रकाश एवं ज्ञान उत्पन्न हो रहा है तो समझना चाहिए अभी सत्त्व गुण की प्रधानता है। रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, क्रिया, कार्यों का प्रारम्भ, अशान्ति, विषय-भोगों की लालसा आदि उत्पन्न होते हैं। तमोगुण की वृद्धि होने पर अज्ञान, आलस्य, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं।¹⁴

गुणों के कार्य

सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न

होते हैं। सत्त्व गुण संतोष, रजोगुण निराशा, दुःख तथा तमोगुण भ्रम का जनक है। सत्त्व गुण में स्थित मृत्यु को प्राप्त प्राणी उच्च लोक में जाता है। राजस पुरुष मध्य तथा तामस पुरुष अधम गुणों में स्थित होकर अधोगति में जाते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥¹⁵

जैनदर्शन एवं सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन में प्राणी की मानसिक, बौद्धिक अवस्थाओं का वर्णन तथा मृत्यु के पश्चात् कहाँ उत्पन्न होंगे इत्यादि बातों का विचार सत्त्व आदि गुणों के आधार पर किया है। जैन दर्शन में प्राणी की इन अवस्थाओं पर विमर्श कर्म के उदय, क्षयोपशम, आर्त, रौद्र आदि ध्यान तथा लेश्या आदि के द्वारा किया है किन्तु यहाँ विशेष विमर्शनीय तथ्य यह है कि गुण प्रकृति के घटक हैं। प्रकृति जड़ है, चेतन पुरुष का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है जबकि जैन परम्परा में कर्म, ध्यान, लेश्या आदि का जीव के साथ सम्बन्ध है। जीव अपने क्रियाकलापों से ही इनका सर्जक बनता है।

सांख्य के यहाँ पुरुष मात्र द्रष्टा है किन्तु जैन के अनुसार पुरुष ही कर्ता है। केवल जड़ पदार्थ इन अवस्थाओं का कर्ता नहीं बन सकता। अतः सांख्य एवं जैन विचारणा की आधारभूमि अत्यन्त पृथक् है।

गीता में त्रिगुण

गीता में श्रद्धा, तप, दान, यज्ञ, कर्म आदि को सात्त्विक, राजस एवं तामस के भेद से तीन-तीन प्रकार का कहा है। उनकी पृथक्-पृथक् पहचान भी वहाँ पर निर्दिष्ट है। उदाहरणतः फलाशंसा से मुक्त योगी पुरुष द्वारा परम श्रद्धा से आचरित, शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तप को सात्त्विक कहा गया है। सत्कार, मान, पूजा आदि के पाखण्ड से किया जाने वाला राजस तप है। शारीरिक कष्ट झेलकर मूर्खतापूर्वक हट से अथवा दूसरों का अनिष्ट करने के लिए किया जाने वाला तप तामसिक तप कहलाता है।

आसक्ति रहित, अहंकार युक्त शब्द न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त-सिद्धि और असिद्धि में जो निर्विकार रहता है, वह सात्त्विक कर्ता कहा जाता है। आसक्तियुक्त, कर्मफल की इच्छा करने वाला, लोभी, हिंसक, अपवित्र, हर्ष एवं शोक से जो युक्त होता है, वह राजसकर्ता है तथा अयोग्य, नीच प्रकृति वाला, घमण्डी, धूर्त, मायावी, आलसी, विषादी, प्रत्येक कार्य को देर से करने वाला तामसी कर्ता कहा जाता है।¹⁶

त्रिगुण : हेय या उपादेय

पुरुष गुणातीत है। अतः गुणातीत अवस्था ही पुरुष का स्वभाव है। किन्तु प्रकृति की संयोग अवस्था में सत्त्वगुणात्मक अवस्था श्रेष्ठ, रजोगुणात्मक अवस्था मध्यम एवं तमोगुणात्मक अवस्था निकृष्ट कहलाती है। क्रमशः ये तीनों ही हेय-छोड़ने योग्य हैं। सर्वप्रथम तमोगुण फिर रजोगुण एवं अन्त में सत्त्वगुण का त्याग कर स्वरूप में अवस्थान होना ही सांख्य के अनुसार मोक्ष है।

आन्तरिक एवं बाह्य जगत

प्रसन्नता, करुणा, प्रेम, मैत्री, सुख आदि जितने भी विधेयात्मक भाव हैं वे सारे सत्त्वगुण से निष्पन्न हैं। दुःख, क्रोध, काम, लोभ आदि निषेधात्मक भाव रजोगुण से निष्पन्न हैं। प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, निद्रा आदि तमोगुण के कारण आविर्भूत होते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों तक का विकास आन्तरिक जगत का विकास कहा जा सकता है। पाँच तन्मात्राओं से उत्पन्न पंचभूतों से बाह्य जगत की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श आदि तन्मात्राओं को सांख्यकारिका एवं अविशेष कहा गया है, क्योंकि सूक्ष्म होने के कारण उपभोग योग्य शान्तत्व, घोरत्व एवं मूढ़त्व विशेषताएँ इनमें नहीं हैं। पंचभूतों को विशेष कहा गया, क्योंकि इनमें शान्त, घोर एवं मूढ़ नामक विशेषताएँ स्पष्ट परिलक्षित हैं।

शान्त सुखप्रद होते हैं, घोर दुःखप्रद होते हैं तथा मूढ़ मोहदायक होते हैं। शान्त सत्त्वगुण प्रधान, घोर रजोगुण प्रधान एवं मूढ़ तमोगुण प्रधान है। आकाश आदि स्थूल भूतों में कुछ सत्त्वगुण प्रधान होने से शान्त, प्रकाशक एवं लघु हैं, रजोगुण की प्रधानता से घोर एवं चंचल हैं तथा तमोगुण की प्रधानता से मोहकारक है। जैसे भीड़ भरे घर से निकलने हुए पुरुष के लिए खुला आकाश सुख हेतु होने से शान्त है, वहीं आकाश सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि से पीड़ित व्यक्ति के लिए दुःख का हेतु होने से घोर है तथा मार्ग पर चलते हुए वन में मार्ग से भटके हुए व्यक्ति के लिए जो मार्ग को नहीं जानता है उसके लिए दिशा मोह का जनक होने से मूढ़ है। इसी प्रकार व्यक्ति भेद, परिस्थिति भेद से सभी भूत, शान्त, घोर एवं मूढ़ कहलाते हैं।¹⁷

महत् और चित्त

सांख्य दर्शन जिसे 'महत्' कहता है, योग उसे ही चित्त कहता है।¹⁸ प्रकृति से सर्वप्रथम इसकी उत्पत्ति हुई। यह चित्त तीनों गुणों के अधीन है और तद्-तद् गुण के

प्राधान्य के कारण नानाविध परिवर्तनों में से गुजरता है। तात्त्विक रूप से चित्त अचेतन है, यद्यपि निकट स्थिति आत्मा के प्रतिबिम्ब से सचेतन (वत्) हो जाता है।

चित्त को व्याख्यायित करते हुए योगभाष्य में कहा गया है—‘चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्’¹⁹ चित्त ज्ञान, क्रिया एवं स्थिति रूप होने से त्रिगुण है। सत्त्वगुण के कारण चित्त ज्ञानवान्, रजोगुण के कारण क्रियावान् एवं तमोगुण के कारण स्थितिवान् है। प्रख्या का अर्थ है तत्त्वज्ञान।²⁰ इसके द्वारा उपलक्षण से सारे सात्त्विक गुणों का कथन हो गया है। प्रवृत्ति का अर्थ है कर्म, इसके द्वारा सारे राजस गुण गृहीत हो गये हैं तथा स्थिति अर्थात् गतिशून्यता इसके द्वारा सारे तामस गुणों का ग्रहण हो गया है।

“प्रख्याग्रहणमुपलक्षणार्थः तेनान्येऽपि सात्त्विकाः प्रसादलाघवप्रीत्यादयः सूच्यन्ते, प्रवृत्त्या च परितापशोकादयो राजसाः प्रवृत्तिविरोधी तमोवृत्तिधर्मः स्थितिः, स्थितिग्रहणाद् गौरवावरणदैन्यादय उपलक्ष्यन्ते”²¹

विविधता का हेतु

संसार में परिव्याप्त सम्पूर्ण चैतसिक एवं भौतिक पदार्थों का कारण प्रकृति के सत्त्व, रज एवं तमोगुण ही हैं। इन तीनों गुणों की पारस्परिक मिश्रण की विविधता ही जगत् के वैचित्र्य का कारण है। पुरुष निर्गुण होता है। गुणों की साम्यावस्था प्रलय की अवस्था है एवं उनकी विक्षोभावस्था सृष्टि का आधार है। पुरुष के अतिरिक्त संसार की समस्त वस्तुओं में ये तीनों गुण न्यूनाधिक रूप में उपलब्ध होते हैं।

गुणों की अभिव्यक्ति

प्रकृति के इन तीनों गुणों का प्रकटन आन्तरिक एवं बाह्य दोनों जगत् में होता है। रजोगुण बाह्य जगत् में क्रिया एवं शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है। महत्त्वाकांक्षा, प्रयत्न, क्रियाशीलता आदि के माध्यम से व्यक्ति में अभिव्यक्त होता है। व्यक्ति में प्राप्त होने वाली चिन्ता, संवेग, बुराई और सब प्रकार के दुःखों का कारण यह रजोगुण ही है।²² सत्त्वगुण भौतिक जगत् में हल्कापन, चमकीले रंग, हवा, प्रकाश एवं हल्के भोजन के रूप में अभिव्यक्त होता है तथा बुद्धिमत्ता, गुण, प्रसन्नता आदि के रूप में व्यक्ति में अभिव्यक्त होता है।²³ बाह्य जगत् में तमोगुण, अन्धकार, भारीपन एवं कठोरता के रूप में अभिव्यक्त होता है तथा व्यक्ति के स्तर पर भय, मूर्खता, अविवेक, आलस्य आदि के रूप में प्रस्तुत होता है।²⁴

त्रयीविद्या एवं त्रिगुण

इस दृश्यमान जगत में तीन वस्तुएँ हमें परलिखित होती हैं — ज्ञान, क्रिया और अर्थ। इसके अतिरिक्त और कोई विश्व नहीं है। ज्ञान, क्रिया और अर्थ क्रमशः सत्त्व, रज एवं तमोगुण के प्रतीक हैं। संसार अनेक त्रिकों से युक्त है। इन त्रिकों के ये तीन गुण ही आधार हैं।

वेद विज्ञान में अव्यय पुरुष की पाँच कलाएँ मानी गयी हैं — आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण एवं वाक्।²⁵ इन पाँच कलाओं में मन, प्राण एवं वाक् का विशेष महत्त्व है, क्योंकि ये तीनों सृष्टि के कारण हैं। ज्ञान से मन, क्रिया से प्राण एवं अर्थ से वाक् की उत्पत्ति होती है। प्रस्तुत प्रसंग में वाक् का अर्थ स्थूल पदार्थ है। सांख्य दर्शन की भाषा में मन सत्त्व है, प्राण रजोगुण है और वाक् तमोगुण है। मन में कामना पैदा होती है, मन की कामना प्राण को गति देती है तथा प्राण की गति वाक् अर्थात् पदार्थ का निर्माण करती है। वेद विज्ञान में प्राप्त त्रिकों की तुलना त्रिगुण से की जा सकती है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं —

	तमोगुण	रजोगुण	सत्त्वगुण
अवस्था	घन	तरल	विरल
वर्ण	वैश्य	क्षत्रिय	ब्राह्मण
पिण्ड	अर्थ	क्रिया	ज्ञान
पिण्ड	मूर्त्त	गति	तेज
व्यष्टि	वैश्वानर (अग्नि)	तैजस (वायु)	प्राज्ञ (आदित्य)
समष्टि	विराट्	हिरण्यगर्भ	सर्वज्ञ
शरीर	स्थूल	सूक्ष्म	कारण
आत्मा	वाक्	प्राण	मन
पुरुष	क्षर	अक्षर	अव्यय

स्थूलता एवं सूक्ष्मता

प्रकृति के गुणों के विभाजन का मुख्य आधार है — स्थूलता एवं सूक्ष्मता। तमोगुण युक्त सब अवस्थाएँ स्थूल होती हैं तथा सत्त्वगुण युक्त सूक्ष्म। स्थूल एवं सूक्ष्म के मध्य की अवस्थाएँ रजोगुण युक्त हैं अर्थात् रजोगुण मध्य में है वह स्थूल एवं सूक्ष्म का मिश्रित

रूप है। अशुभ से शुभ की ओर प्रस्थान का अर्थ है स्थूल की ओर प्रयाण। स्थूल दृष्टि वाला व्यक्ति पापकारी प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है। पाप का कारण स्थूल दृष्टि है। इस दृष्टि से युक्त प्राणी अपाद्भद्र परिणामदर्शी होते हैं। यह तमोगुण की परिचायक है। पुण्य की ओर प्रस्थान सूक्ष्मदृष्टि से होता है। तमोगुण स्थूलता का संवाहक है। सत्त्व गुण सूक्ष्मता का आधारभूत तत्त्व है। पुरुष और प्रकृति की अन्यता का बोध विवेक ख्याति से होता है। (विवेकख्यातिः सत्त्वगुणात्मिका) अन्ततोगत्वा इसका भी निरोध कर दिया जाता है। पातंजल योग दर्शन के अनुसार वह अवस्था की निर्बीज समाधि की है। उसके पश्चात् पुरुष का अपने स्वरूप में अवस्थान हो जाता है। त्रिगुणवस्था संसार है। गुणातीत निर्गुणावस्था स्वरूपावस्थान है। वह आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।

सन्दर्भ-सूची :

1. सांख्यकारिका, 3 मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥
2. वही, 2 व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।
3. वही, 11 त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥
4. षड्दर्शनम् श्लोक 37 “एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः किलोच्यते।”
5. John Bowker, Concise dictionary of world religion, P. 452
Prakrti is composed of three balanced gunas or constituent modes which in disequilibrium, combine to generate all other material principles.
6. सांख्यकारिका 25, सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥
7. वही, 12
8. वही, 12
9. वही, 13
10. वही, 13
11. वही, 13
12. गीता, 14/5 सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबन्धन्ति महाबाहो! देहे देहिनमभव्ययम् ॥

13. वही, 14/6-9
14. वही, 14/11-9
15. वही, 14/18
16. वही, 17/2-22
17. सांख्यकारिका 38
18. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, पृ. 296
19. पातंजल योग दर्शनम् 1/2 का भाष्य
20. सांख्य योगदर्शन (वार्तिकम्), पृ. 12, प्रख्या-तत्त्वज्ञानम्
21. वही, तत्त्ववैशारदी टीका, पृ. 12
22. John Bowker, Concise dictionary of World religion, P. 472
23. वही, पृ. 517
24. वही, पृ. 574
25. वेद विज्ञान वीथिका, पृ. 84

सम्पर्क सूत्र -
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं (राजस्थान)

मानवीय चिन्तन में परमसत्ता

— सूरजमल राव

यह चराचर जगत् विचित्रताओं का समष्टि स्वरूप है। सम्पूर्ण जगत् एक अनसुलझा सा रहस्य प्रतीत होता है। आदि से अर्वाचीन काल तक मानव मस्तिष्क इस रहस्य से पर्दा उठाने का प्रयास कर रहा है। जैसे-जैसे प्रयास की गति तेज होती जाती है, रहस्यमय जगत् का रहस्य भी बढ़ता ही जाता है। इस आधुनिक प्राणीशास्त्र के गहन अनुसंधान से इस रहस्यमय मानव की कुण्डली खुलने लगी है।

इस संसार में अनन्त काल से मानव एवं मूक प्रकृति के समस्त क्रिया-कलाप एक रहस्यमय ढंग से निरन्तर गतिशील हैं। सम्पूर्ण सौरमण्डल एक विस्तृत रहस्य है। जिसके प्रत्येक भाग व परत-दर-परत रहस्यों का एक मकड़ीजाल-सा दिखाई देता है। इक्कीसवीं सदी का अतिविकसित मानव एवं मानव निर्मित तकनीक भी इस रहस्य से पर्दा उठाने में असक्षम सी प्रतीत हो रही है। इन सबके साथ-साथ सदियों से मानव मन को उद्बलित करने वाली एक विचारधारा मानव समुदाय में निरन्तर प्रवाहमान है वो है मानव मन की अलौकिक आस्था या परमतत्त्व या परमसत्ता में विश्वास।

पाषाण काल से इस प्लेटेनियम युग तक मानव इस परलौकिक अवधारणा के द्वन्द्व में फंसा हुआ है। सैकड़ों अनुसंधान एवं तर्क-वितर्क के बाद आज भी यह विचारधारा अपने आदिम स्वरूप में ही मानव समुदाय में विद्यमान है। सम्प्रति परमसत्ता का प्रश्न एक यक्षप्रश्न बनकर मानवीय चिन्तन को प्रभावित कर रहा है। मानव इस सजीव सृष्टि का एक प्राणी मात्र है। प्राणीजगत के समस्त प्राणियों के साथ मानव का उद्भव हुआ जिसके समस्त क्रिया-कलाप पशुओं की भांति सम्पादित होते थे फिर भी इस अवस्था में

मानव मन मस्तिष्क में परमसत्ता का या दिव्य जगत् की परिकल्पना का उद्भव कैसे हुआ? मानव इस लोक में रहते हुए परलोक की कामना क्यों करने लगा? विश्व के प्राचीन इतिहास का अध्ययन किया जाये तो यह विचारधारा उतनी ही प्राचीन दृष्टिगोचर होती है जितनी की मानव जाति।

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं पर विहंगम दृष्टि डालें तो परमसत्ता का एक विस्तृत स्वरूप उभरकर सामने आता है। मध्य एशिया से लेकर सुदूर अफ्रीका और कोलम्बिया से लेकर चीन तक यह चिन्तन सार्वभौमिक स्वरूप में विद्यमान लगता है। विश्व की प्राचीनतम सुमेरियन सभ्यता में देव समूह की परिकल्पना की गई है। यहां के निवासी अपनी आदिम अवस्था से ही दिव्य शक्तियों में विश्वास करते आये हैं उनका मानना था कि “इस जगत् में ऐसा कोई अंश नहीं है जहां किसी देवता का वास नहीं हो।”

सुमेरियन सभ्यता में प्रचलित अनेकों आख्यानों से परमसत्ता का विश्वास पुष्ट होता है। “एनलीन एवं निनलिनल नामक आख्यान में एनलील के पुत्र प्राप्ति पर उसे चन्द्रमा से (पुत्र के) प्रकाश प्राप्त होता है।^१ इस सुमेरियन सभ्यता में बहुदेववाद की अवधारणा व्याप्त थी जहां शुभ-अशुभ के रूप में देवताओं का अभी विभाजन नहीं हुआ था। सुमेरियन सभ्यता में पनपने वाले इस विचार के मूल में आदि मानव का पारलौकिक चिन्तन ही कार्यरत था। इस प्रकार एक ठोस तथ्य उभरकर सामने आता है कि जब से मनुष्य को प्राणी जगत् में अपने अलग अस्तित्व का बोध हुआ तब से मानव मन एक परमसत्ता का चिन्तन करने लगा।

(1) मनुष्य के बौद्धिक विकास के साथ-साथ इस परमसत्ता के स्वरूप में भी बदलाव आने लगा परन्तु बदलती हुई मानसिकता यह भी मानव को आदिम चिन्तन से मुक्त नहीं करा पाई एशिया माईनर के पास विकसित होने वाली अनालोलिया की सभ्यता के मानवीय चिन्तन में भी इस परमतत्त्व की विचारधारा को स्पष्ट देखा जा सकता है। इस हिती सभ्यता में मानव प्रारम्भिक अवस्था में पशुओं के साथ प्राकृतिक शक्तियों पेड़-पौधे, नदी-पर्वतों की आराधना दिव्यशक्तियों के रूप में करने लगा जहां “ऋतुदेव लोकप्रिय देव था वहीं अरिन्नानगर की सूर्य देवी” की आराधना की पृष्ठभूमि में परमतत्त्व की परम्परागत चिन्तनधारा अपने मूल रूप में मौजूद थी इसी प्रकार मध्य एशिया की असीरियन सभ्यता में देव और परलोक की व्याख्या हुई है, इस सभ्यता में मानव अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए बड़ा ही सजग लग रहा है। जहां

“प्रत्येक बालक से लेकर वृद्धों तक सब ताबिज धारण करते थे जिन पर भांति-भांति की आकृतियां एवं मंत्र खुदे हुए होते थे”⁴ मानव की यह धारणा परमसत्ता या दिव्य पुरुष की सत्ता को स्वीकार करती है। इस प्रकार का चिन्तन विश्व की प्राचीनतम यहूदी संस्कृति में भी व्याप्त था। यहां भी आदिम अवस्था से ही बहुदेववाद एवं सर्वचेतनावाद (एनिमिष्टस) का प्रचलन था वृषभ भेड़ और नागपूजा, आदिमानव की पुरातन विचारधारा की ही द्योतक मानी जा सकती है। मिश्र की सभ्यता में परमसत्ता की धारणा आदिमयुग से ही विद्यमान थी। इस आदिम संस्कृति की चरम परिणति पिरामिड सभ्यता के रूप में हुई। यहां बौद्धिक चेतना के साथ परमसत्ता के स्वरूप का भी विकास हुआ। परमसत्ता के रूप में सूर्य देव की विचारधारा पिरामिड युग की महान् देन है जिसके मूल में आदिमानव का पारलौकिक चिन्तन ही था, जो इहलोक से परे परलोक की कल्पना करता था, इस सभ्यता में परलोकवाद का विकास हुआ। आगे चल कर यह मिश्री चिन्तन परलोकवाद का मूल आधार बन गया।

भूमध्यसागर के उत्तरी भाग में ईजियन सभ्यता विकसित हुई। यहां परमसत्ता का चिन्तन भारतीय परम्परा के समान ही विकसित हुआ। यहां पर मिश्रियों हितियों एवं परवर्ती युनानियों की भांति प्रारम्भिक अवस्था में प्राकृतिक शक्तियों एवं बहुदेववाद के रूप में परमसत्ता की पूजा अर्चना होती आई थी “मातृ देवी व प्रतीक वृषभ”⁵ की उपासना होने लगी, परम सत्ता के चिन्तन का विकास हुआ और बड़े देवालयों में परमसत्ता की आराधना होने लगी। यहां भी इस सम्पूर्ण चिन्तन की पृष्ठभूमि में आदिमानव का परलौकिक चिन्तन सर्वव्यापी था। इसी प्रकार इरानी सभ्यता का स्वरूप काफी कुछ ऋग्वैदिक परम्परानुसार ही था पर यहां मानव प्रारम्भिक अवस्था देव के साथ-साथ असुरों की उपासना भी करता था। यह प्रक्रिया परम्परागत परमसत्ता के चिन्तन का ही अंश थी। सुदूर पूर्व में विकसित होने वाली चीन की सभ्यता में भी सर्वचेतनावादी बहुदेववादी रूप में परमसत्ता का चिन्तन मौजूद था। वहां प्राकृतिक शक्तियों के साथ-साथ भौतिक पदार्थों में देवत्व का आरोपण कर इस परमसत्ता की अवधारणा को स्वीकारा गया था। नगरीय संस्कृति के रूप में विकसित सिन्धुघाटी सभ्यता में प्राकृतिक शक्तियों को परमसत्ता के रूप में स्वीकारा गया था। बहुदेववादी विचारधारा में “मातृ देवी आद्यशिव एवं लिंगोपासना”⁶ सिन्धु सभ्यता की पशुपति की उपासना पर मार्शल ने कहा “शाक्तों ने आसुरी शक्ति के निवारण हेतु उसकी शरण ली थी अर्थात् यह सत्य है कि इससे शक्तियों के तांत्रिक कवच का जन्म हुआ।”⁷ जो कुछ भी हो, पर इससे यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि यहां भी आदिमानव की मूल अवधारणा भी अन्य सभ्यताओं से भिन्न नहीं थी।

सभ्यताओं के इस बृहद् अध्ययन से यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि विश्व के विभिन्न भागों में विकसित होने वाली इन महान् सभ्यताओं में परमसत्ता या दिव्यशक्तियों के स्वरूप एवं आराधना पद्धतियों में देश-काल परस्थितियों के अनुसार कुछ भिन्नता जरूर हो सकती है परन्तु इनके समस्त अनुयायियों के हृदय के मूल प्रयोजन में कोई भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती है।

ये समस्त सभ्यताएं इस भूमण्डल पर मानव विकास की आदिम अवस्था थी, यहां मानव का विकास धीरे-धीरे हो रहा था। अभी आदिमानव एवं सभ्यता के प्रथम चरण के मानव में काफी समानता थी। इस समय तक मानव में बौद्धिक विकास का पूर्णतः अभाव ही था पर परमसत्ता की मूलधारणा सभ्यता के प्रथम चरण से ही मानव मस्तिष्क में उपस्थित थी, जिसकी जड़ें सुदूर अतीत में अवस्थित थी। मानव प्रज्ञा के इस शैशवकाल में परमसत्ता की अवधारणा का मूल्यांकन करते हुए आधुनिकतम युग बौद्धिक मानव में माना है कि परमसत्ता में इस धारणा की पृष्ठभूमि में आदिमानव की भौतिक आवश्यकता ही थी।

परमसत्ता की धारणाओं को लेकर बौद्धिक मानव का मानना है कि सृष्टि के सृजनकाल में मानव नितान्त असहाय था, भयाक्रान्त था और अभी सक्षमता का अभाव था। इस अवस्था में उसने अपने भैतिक सुख समृद्धि हेतु परमसत्ता की परिकल्पना की, परन्तु भय को इस परमसत्ता की उत्पत्ति का एकमात्र कारण मानना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। भय के अतिरिक्त मनुष्य की कुछ अन्य भावना भी इस परमसत्ता के उत्थान में सहायक हो सकती है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य भयभीत तभी होता है, जब मनुष्य को अपनी प्रिय या मूल्यवान वस्तु के नष्ट होने की आशंका होती है। आदिकाल से ही मानव मूल्यवान पदार्थों की रक्षा एवं वृद्धि की कामना करता आया है। यह प्रस्तुत आकांक्षा भी मानव को परमसत्ता के बारे में चिन्तन करने को बाध्य कर सकती है।

कोई भी कारण रहा हो पर यहां मुख्य बात यह है कि विश्व के विभिन्न भागों में विकसित होने वाली प्रजातियां जिनकी शारीरिक संरचना भिन्न-भिन्न थी, इस समय भौतिक आवश्यकता एवं बौद्धिक चिन्तन की अवस्था भी भिन्न-भिन्न थी, परन्तु फिर भी सभी मनुष्यों के मन मस्तिष्क में परमसत्ता की एक सार्वभौमिक अवधारणा का पाया जाना ही इस सार्वभौमिक परमसत्ता की सत्यता का सबसे बड़ा प्रमाण है, जो मानवीय चिन्तन को सतत् रूप से प्रभावित करता रहा है।

मानव एवं परमसत्ता का यह शाश्वत सम्बन्ध आदिकाल से निरन्तर गतिशील रहा है। आदिकालीन मानव अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्राकृतिक शक्तियों को देवत्व में आरोपित किया और इन प्राकृतिक शक्तियों में अनेक आत्माओं की परिकल्पना और इन आत्माओं के निवास हेतु एक लोक की कल्पना की जो परलोक कहलाया। यह विचारधारा संसार की समस्त जनजातियों, संस्कृतियों में समान रूप से विद्यमान थी इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मानव के चिन्तन में परमसत्ता की धारणा का मूल स्रोत आदिकालीन मानवीय चिन्तन ही है।

आदिकाल का मानव परमसत्ता को प्रारम्भिक दौर में स्थूलकाय मानता था। स्थूल मानने के साथ-साथ उसे अदृश्य भी मानता था। यह परमसत्ता एक सूक्ष्म शरीर में निवास करती थी। यह सूक्ष्म शरीरधारी परम तत्त्व एक अदृश्य जगत में निवास करते थे। यह मानव के बौद्धिक चिन्तन की एक महान् उपलब्धि थी।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मानव समुदाय में अतीन्द्रिय जगत् की परिकल्पना आदिम युगीन मानव मस्तिष्क की उपज है। यह अध्यात्म जगत की प्रथम नींव थी, जिस पर आज सम्पूर्ण विश्व का दर्शन जगत् खड़ा है। मानव का विशेष गुण “प्रज्ञाशीलता” उसे पशु जगत् से अलग स्थापित करता है। जिसका विकास मानव की उत्पत्ति से आज तक सतत् रूप से हो रहा है, विवेक पर ही केवल मानव प्रत्येक विषय पर चिन्तन कर सत्य को स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इस जागृत प्रज्ञा के आधार पर मानव ने इहलोक के परे परलोक की परिकल्पना कर मानव मन की जिज्ञासा को परमसत्ता की प्राप्ति के लिए तीव्र कर दिया। आज सम्पूर्ण विश्व का आध्यात्मिक और दार्शनिक चिन्तन इस परमसत्ता के प्रत्यक्षीकरण के प्रयास में लगा हुआ, परमसत्ता के आस-पास घुमता सा नजर आता है।

विश्व के सबसे प्राचीन साहित्य एवं भारतीय जगत् के आधार स्तम्भ ऋग्वेद में प्रकृति एवं मानव का सम्बन्ध इहलोक एवं परलोक के सुन्दर समन्वय को प्रस्तुत करता है। प्रारम्भिक ऋग्वैदिक अवस्था में वैदिक संस्कृति की धार्मिक पद्धति के तहत बहुदेववाद का प्रचलन हुआ। इसमें अनेकानेक दिव्यशक्तियों को देवताओं के रूप में स्वीकार किया गया है। यह मानव के आदिम अवस्था के चिन्तन की धारणा ही थी परन्तु वैदिक परम्परा का उत्तरोत्तर विकास हुआ और इसमें बहुदेववाद के बाद एकाधिदेववाद और एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद के रूप में परमसत्ता का स्वरूप विकसित हुआ।

ऋग्वेद में जगत् की आरम्भिक अवस्था के वर्णन में कहा गया कि “उस समय

सभी अज्ञात और सभी जलमय था। तुच्छ अज्ञान के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वह एक तत्त्व उत्पन्न हुआ¹⁸ इसके बाद “परमसत्ता में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई।”¹⁹ कहा भी गया है, “कामस्तदग्रे समवर्तत।”¹⁰ उपनिषद् में भी परमात्मा की सिसृक्षा की ओर संकेत करते हुए कहा गया है, -“सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति।”¹¹

(1) कामस्तदग्रे सभवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

नासदीय सूक्त के सप्तम मन्त्र में परमसत्ता की तरह संकेत करते हुए कहा है कि यह नाना सृष्टियां कहां से उत्पन्न हुई, किसने सृष्टियां उत्पन्न की, किसने नहीं की-यह सब वही जाने जो इनके स्वामी परमधाम में निवास करते हैं, अन्य कोई नहीं है। इस वैदिक एवं उपनिषद् परम्परा में वर्णित परमसत्ता का मूलस्वरूप आदिकालीन मानव की परमसत्ता के अनुरूप ही था। उपनिषद् परम्परा में मानव का बौद्धिक विकास अपने पूरे यौवन पर था, जहां ऋग्वेद में वर्णित परमसत्ता के समस्त स्वरूप पर वृहत् एवं गहन दृष्टि से चिन्तन एवं मनन हुआ। केनोपनिषद् में परमसत्ता को मन बुद्धि वाणी का प्रकाशक कहा गया है। तैत्तरीय उपनिषद् एवं छान्दोग्य उपनिषद् आदि में परमसत्ता को विश्व मूल कारक माना गया है।

यतोवाइमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति।

यत् प्रयत्यमभी संविशति तत् ब्रह्ममैति ॥¹²

इस परमसत्ता को ही सृष्टि का उत्पन्नकर्ता, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता माना गया है, उससे ही समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति हुई और अन्ततोगत्वा उसी में सबका लय होता है। गीता को भारतीय दर्शन ही नहीं, विश्व के दार्शनिक जगत् की प्रतिकृति माना जाता है। यहां भी परमसत्ता का उल्लेख जगत् के कर्ता के रूप में हुआ, जो स्वयं स्वयंभू है। परमसत्ता के लिए कहा भी गया है-

“उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः परमसत्ता को साक्षी भरण पोषण कर्ता एवं भोक्ता माना गया है।”¹³

गीता में सर्वेश्वरवाद एवं ईश्वरवाद में कोई विरोध नहीं है। सर्वेश्वरवाद को मानते हुए भी इस जगत् से परे की सत्ता को स्वीकारा गया जो उसमें अन्तर्व्याप्त भी है।

“ममैवांशो जीवलोकं जीवभूतः सनातन”¹⁴ भारतीय दर्शन का विकास आलोचनात्मक पद्धति से हुआ चार्वक एक ऐसा दर्शन है जो पूर्णतः भौतिकवादी है

“उपमा पर आधारित चैतन्य की व्याख्या अमान्य प्रतीत होती है। चार्वाक का विश्व एवं परमसत्ता सम्बन्धी विचार एकांगी है।”¹⁵ परम्परागत भारतीय चिन्तन में परमसत्ता की महत्ता के साथ-साथ अन्य देवों की महत्ता को भी माना गया है। यह बहुदेववादी विचारधारा का ही प्रवाह है जिसमें देवों को महत्त्वपूर्ण माना गया था। अनिश्चरवादी भारतीय दर्शनों- जैन, बौद्ध, सांख्य मीमांसा में भी परमसत्ता की महत्ता का पूर्णतः खण्डन नहीं हुआ। जहां जैन दर्शन में दस इन्द्रादि देवों को माना गया है, वही इनका परलोकवादी सिद्धान्त परम्परागत चिन्तन का ही पोषक है।

यह माना जा सकता है कि प्रबल प्रमाणों से पुष्ट जैन दर्शन में अनेकान्त का अजर-अमर सिद्धान्त समन्वयवादी संस्कृति का पोषण है, जो व्यर्थ वितंडावाद को खत्म कर सत्य को नजदीक से देखने की कोशिश करता है परन्तु देव सत्ता की महत्ता, मोक्ष एवं परलोक की अवधारणा से लगता है कि आदिकालीन मानवीय चिन्तन अब भी बौद्धिक मानव के चिन्तन को प्रभावित कर रहा है।

ज्ञानशास्त्र एवं तर्कशास्त्र से परिपूर्ण न्यायदर्शन में परमसत्ता को स्वीकारा गया है। महर्षि गौतम ने अपने ग्रन्थ “न्यायसूत्र” में इसका उल्लेख किया है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में परमसत्ता को नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, धर्म व्यवस्थापक, कर्मफलदाता तथा सृष्टि का रचयिता माना है, वही विश्वकर्मा है।¹⁶

न्यायदर्शन के मोक्ष विचार में चेतनाहीन मुक्त आत्मा मानकर कुछ भ्रम उत्पन्न कर दिया परन्तु परमसत्ता की अवहेलना नहीं कर सका, इसी प्रकार वैशेषिक के सामान्य की अवधारणा परमसत्ता की स्वीकृति ही प्रतीत होती है, क्योंकि जो शाश्वत है, नित्य है, विनाशी है वो परमसत्ता के अलावा और क्या हो सकता है।

सांख्यदर्शन में कपिलमुनि प्रवर्तित सांख्य को (निरीश्वर) सांख्य और महर्षि पांतजलि प्रवर्तित सांख्य को ईश्वर सांख्य माना गया है। इनके अनुसार “यः सर्वज्ञः सः सर्ववित् सहि सर्ववित् सर्वस्य कर्ता” यहां परमसत्ता की बजाय मुक्त पुरुष की प्रशंसा है ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुरुष मानव के आदिकालीन चिन्तन का ही अंश है जिसे थोड़े बहुत फेर बदल के बाद स्वीकारा गया है। महर्षि पांतजलि ने योगदर्शन में परमसत्ता को “क्लेशकर्मविपाकाशैः यः अपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वर” यहां आदिकालीन परमसत्ता के स्वरूप में विशेष ज्योतिर्मय प्रकाश दृष्टिगोचर होने लगा। इसी प्रकार मीमांसा दर्शन में भी परमसत्ता को स्वीकार किया गया परन्तु वास्तव में डॉ. राधाकृष्णन के विचारानुसार “जगत् के दार्शनिक विवरण के रूप में यह मूलतः अपूर्ण है।”¹⁸

इस दर्शन में परमसत्ता की महत्ता को स्वीकारा गया है। मीमांसकों का मानना है कि तर्क एवं अनुमान के आधार पर ईश्वर या परमसत्ता को प्रभावित नहीं कर सकते, क्योंकि इसका कालान्तर में खण्डन किया जा सकता है। वेद सिद्ध परमसत्ता का खण्डन करना मीमांसा का कोई उद्देश्य नहीं था। शंकर ने अपने दर्शन में परमसत्ता की व्याख्या निषेधात्मक रूप से की है। उपनिषदों में वर्णित शक्तियों का उल्लेख कर परमसत्ता के निर्गुण स्वरूप की व्याख्या करते हैं।

“इदं तु पारमार्थिक कूटस्थं नित्यं व्योमवत् सर्वव्यापी सर्वक्रियारहितं नित्यं तृप्तं निरवयवं स्वयं ज्योति स्वभावम्”¹⁹ शंकर का ब्रह्म स्वयं प्रकाश, निष्क्रिय निर्गुण निरवयव तथा अनंत है। आदिकालीन मानवीय परमसत्ता की अवधारणा शंकर के दर्शन में भी निर्बाध गति से जारी है। यह सत्ता रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद भी दृष्टिगोचर होती है। चित् जीवात्मा और अचित जड़ प्रकृति रामानुज के दर्शन में चिदचिद्विष्टि कहलाई और सगुण ईश्वर से अपृथक् रूप से संयुक्त मानी गई है। वही समकालीन भारतीय चिन्तक रामकृष्णन् परहंस, विवेकानन्द, गांधी, अरविंद, टेगोर, के.सी. भट्टाचार्य एवं राधाकृष्ण सगुण एवं निर्गुण का भेद भूलाकर परमसत्ता की महत्ता को स्वीकार किया है।

भारतीय दर्शन की भांति यूनान में भी दर्शन की एक सबल परम्परा का उत्थान हुआ। दोनों दर्शन के मूल में मानव का आदिमकालीन परमसत्ता का चिन्तन ही गतिशील था। जहां भारतीय दर्शन में विश्वव्यापी भौतिक कष्टों को देखकर परम तत्त्व का चिन्तन किया गया, वहीं पाश्चात्य दर्शन के उत्थान में जिज्ञासा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही, जिसके नैपथ्य में आदि अवस्था का “परम तत्त्व” मानव मन को उद्धेलित कर रहा था। भारतीय दर्शन में उस आदिम सत्ता का स्वरूप विकसित हुआ। ऋग्वेद से लेकर समकालीन भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि उस पर ही केन्द्रित रही। इसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन में भी ग्रीक के दर्शन और समस्त यूरोपियन दर्शन में उस (Ultimate reality) परम तत्त्व की खोज में लगा रहा।” दोनों दर्शनों में उद्देश्य और पद्धतियों में महत्त्वपूर्ण अन्तर देखा जा सकता है। सम्पूर्ण भारतीय में मोक्ष की अवधारणा और परमतत्त्व के साक्षात्कार की उच्च आकांक्षा दृष्टिगत होती है, वही पाश्चात्य जगत दर्शन केवल ज्ञान पीपासा को तृप्त करने वाला साहित्य कहलाया। पाश्चात्य मानव के इस मानसिक व्यायाम को आखिर दर्शन की संज्ञा दी गई और दर्शन उसे कहते हैं जो अनवरत तथा प्रयत्नशील चिन्तन के आधार पर विश्व की समस्त अनुभूतियों की बौद्धिक व्याख्या तथा उनके मूल्यांकन का प्रयास करता हो। इस पाश्चात्य दर्शन का मूल उद्देश्य भी भारतीय चिन्तनानुसार वास्वविक सत्य की खोज ही रहा है और होगा भी क्यों नहीं, दोनों के मूल

में आज भी आदिमानव की वो ही विचारधारा कार्यरत थी कि इस सृष्टि के परे भी कोई सत्ता है जो इस संसार का संचालन कर रही है।

माइलेशियन मत ग्रीक का प्रचीनतम दर्शन है। थैलीज, एनेकिजमेण्डर, एनेकिजमनीज इस परम्परा के दार्शनिक थे। थैलीज ने सृष्टि का मूल जल को माना, वहीं एनेकिजमेण्डर ने अपनी रचना “प्रकृति पर निबन्ध” में थैलीज का खण्डन भौतिक द्रव्य में परम तत्व को नहीं मानकर किया और परमसत्ता को असीम (Apeiron or the Boundless) कह कर किया कि यहाँ नित्य, स्वयंभू, अविनाशी और अपरिणामी है।” इसके पश्चात् अस्तित्व में आने वाले पाइथागोरियन मत में माइलेशियन मत की परमसत्ता को स्वरूप प्रदान किया गया यहाँ पर पुनर्जन्म और आत्मा की अमरता के साथ-साथ कर्मवाद को भी स्वीकारा गया। अतीन्द्रिय जगत् को पाश्चात्य दर्शन में स्थापित करने वाला पाइथागोरियन ही था। वहीं बुद्ध के समकालीन उत्पन्न होने वाले हेरेक्लाइटस ने अग्नि को परमसत्ता माना। वहीं जैनोपनीज ने शंकर के ब्रह्म की भांति परमतत्त्व को निराकार, नित्य और अपरिणामी माना था। पाश्चात्य जगत् के महान् चिन्तन पार्मोनाइडीज ने कूटस्थ सत्य के साथ स्वर्ग की परिकल्पना कर मानव के प्रारम्भिक चिन्तन को जीवित रखा।

मेलिसस नामक पाश्चात्य विद्वान ने तो सत्ताशून्य आकाश का खण्डन कर सत् को अनन्तरूप में प्रतिष्ठित किया और यह तभी होगा जब सत्, विज्ञान रूप में होगा न कि भौतिक। समय के साथ बुद्धि एवं दर्शन दोनों का विकास हुआ। इस कारण परमसत्ता के स्वरूप का भी विकास हुआ। जहाँ ग्रीकदर्शन की प्रारम्भिक विचार धारा में ब्राह्म्य प्रकृति का चिन्तन दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि अब भी आदिमानव का मौलिक चिन्तन समाज में व्याप्त था। साइक्रेटीज, अरस्तू एवं प्लेटों पाश्चात्य दर्शन के आधार स्तम्भ माने गये हैं परन्तु साइक्रेटीज सबसे बड़ा रहस्यवादी था जिसने अपने चिन्तन में अलौकिक परमसत्ता का उल्लेख किया। इसी प्रकार महान् चिन्तन प्लेटो भी प्रत्ययों की सत्ता द्वित्य जगत् की स्थापना अपने दर्शन के माध्यम से करता है। महान् दार्शनिक अरस्तू ने भी इन विज्ञानों की सत्ता को स्वीकार किया। “आधुनिक पाश्चात्य दर्शन परम्परा” का उत्तरोत्तर विकास होता गया। नवीन चिन्तनधारा का प्रवाह इस परम्परा में हुआ, जिसमें बुद्धिवादी स्वीकार कर, अनुभववादी और नीतिशास्त्रपरक दर्शन सामने आये। यहाँ दर्शन की दिशाएं बदलने लगी थीं, परन्तु परमसत्ता का यह प्रश्न आज भी इन नवीन विचारधारा में अपने मूलस्वरूप में उपस्थित हैं।

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त, स्पेनोजा एवं लाइबटिज बुद्धिवादी परम्परा के पोषक हैं परन्तु जहां मानव की बुद्धि गौण हो जाती है वहां परमसत्ता का सहारा लेकर चिन्तन को विराम देते हैं लॉक बर्कले और ह्यूम अनुभववादी दार्शनिक माने जाते हैं परन्तु जहां सारे अनुभव गौण हो जाते हैं वहां अनुभवातीत परमसत्ता मानकर अपने चिन्तन को विराम देते हैं। परमतत्त्व के संधान से संबंधित अनुभववाद एवं बुद्धिवादी चिन्तधाराओं का संघर्ष पाश्चात्य दर्शन में विख्यात है। इम्युनलकाण्ट इनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते हैं और शुभ संकल्प का विचार दर्शन जगत् को प्रदान करते हैं। इनका मानना है कि शुभसंकल्पानुसार कार्य करने वाले व्यक्ति को आनंद की प्राप्ति होनी चाहिए। अतः कोई ऐसी सत्ता होना आवश्यक है, जो आनन्द प्रदान करती हो और वह परमसत्ता ही हो सकती है। इस सृष्टि में परमसत्ता को स्वीकार करना अति आवश्यक हो जाता है। सम्प्रति मानव अपने चरम बौद्धिक विकास के काल में भी परम तत्त्व या परम सत्ता के परम्परागत चिन्तन से मुक्त नहीं हो पाया है।

भारतीय दर्शन एवं आधुनिक भारतीय दर्शन यूनानी दर्शन आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में परम सत्ता की अवधारणों को लेकर एक सामान्य दृष्टिपात करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सृष्टिसृजन की प्रारम्भिक अवस्था में जनजातियों, संस्कृतियों में परमसत्ता का विचार सार्वभौमिक था, उसी भांति सभी दर्शनों के मूल में एक ही मौलिक चिन्तन सामने आता है। आदिम युगीन मानव बौद्धिक विकास की दृष्टि से बहुत ही निम्नस्तर पर था। जनजातियों में देवत्व की भावना का जन्म हुआ। प्राकृतिक शक्तियों में आत्मा की भी परिकल्पना की गई परन्तु इसके गुणस्वरूप पर उसका चिंतन नहीं हुआ। शुभ और अशुभ आत्मा से आगे उसका चिन्तन नहीं बढ़ा। इस कारण आधुनिक आत्मत्व एवं परमसत्ता की तत्त्वमीमांसीय अवधारणा है, जो आदिमानव नहीं कर सका परन्तु इस परमसत्ता की मूल अवधारणा से आज का अतिमानसिक चिन्तन भी अपने आपको बचा नहीं पाया। परमसत्ता की अवधारणा मानव में उतनी ही प्राचीन है जितनी कि यह मानव जाति और उतनी ही नवीन है जितना कि एक नवजात शिशु। मानव एवं परमसत्ता का सम्बन्ध आज भी सार्वभौमिक एवं शाश्वत है।

सन्दर्भ -

1. विश्व की प्राचीन सभ्यता (लेखक-श्रीराम गोयल)
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. सं. 53
2. वही - पृ. सं. 55
3. वही - पृ. सं. 150

4. वही - पृ. सं. 177
5. वही - पृ. सं. 306
6. प्राचीन भारत एक रूपरेखा (डी. एन. झा) - पृ. सं. 16
7. प्राचीन भारत (डॉ. हरिवंश शर्मा) मलिक एण्ड - पृ. सं. 20
कम्पनी जयपुर -1995
8. ऋग्वेद- 10/129/31
9. ऋग्वेद- 10/129/31
10. वही
11. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्ली षष्ठ अनुवाक
12. तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1
13. गीता 13/2
14. भगवत गीता 15/7
15. भारतीय दर्शन की रूपरेखा (प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा)- पृ. सं. 97 मोतीलाल बनारसीदास
16. ब्रह्मसूत्र : शांकरभाष्य 1-1-5
17. योगसूत्र
18. Indian Philosophy -Radhakrishnan vol. II. p. 428
19. शांकर भाष्य -1-1-11
2. एनलिल और निनलिल नामक आंख्यान से एनलिल के पुत्र चन्द्रमा के जन्म पर प्रकाश मिलता है।
11. सोऽकामयत ॥ बहु स्यां प्रजायेयेति ॥ ॥ इति ब्रह्म वल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥
12. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥
येन जातानि जीवन्ति" यत्प्रयन्त्यमिसविशन्ति ॥ तद्विजिज्ञासस्व तद्वहोति ॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः
11. सोऽकामयत ॥ बहु स्यां प्रजायेयेति ॥ -इति ब्रह्मवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥

कनिष्ठ शोध अध्येता
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान,
लाडनू- (राज.)

शास्त्रवार्तासमुच्चय में ईश्वरकर्तृत्ववाद

— डॉ. अतुलकुमार प्रसाद सिंह

शास्त्रवार्तासमुच्चय जैन दर्शन के समन्वयवादी आचार्य हरिभद्र की विलक्षण दार्शनिक कृति है। इसके माध्यम से आचार्य हरिभद्र ने अपना परिचय उदारवादी समालोचक के रूप में दिया है। हरिभद्र ने इससे पहले भी अनेक ग्रंथों की रचना की, जिसकी संख्या 1440 मानी जाती है। लेकिन वर्तमान में इनमें से कुछ को छोड़ शेष विलुप्तप्राय ही हैं। भारतीय दर्शन का परिचय मात्र 87 श्लोकों में दे दिया है। इसमें प्रतिपाद्य दार्शनिक मत हैं— बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक और मीमांसा।

बाद में इन दार्शनिक शाखाओं की विस्तृत विवेचना और उनके एक दूसरे के साथ आपसी संबंधों को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से हरिभद्र ने शास्त्रवार्तासमुच्चय की रचना की। इसमें कुल 700 छन्द हैं। यह 11 स्तबकों में विभक्त है। इस ग्रंथ में जिन दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा की गई है, उनमें प्रमुख हैं— भौतिकवाद, कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद, ईश्वरवाद, प्रकृति-पुरुषवाद, क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, सर्वज्ञताप्रतिषेधवाद और शब्दार्थसंबंधप्रतिषेधवाद। समीक्षा के क्रम में हरिभद्र ने अपने दृष्टिकोणों से इस बात की मीमांसा की है कि ये किस तरह से सत्य हैं और इसका औचित्य क्या है? इस प्रस्तुत शोध लेख में हम शास्त्रवार्तासमुच्चय में प्रतिपादित न्याय दर्शन के ईश्वरवाद और जैन दर्शन व हरिभद्र की दृष्टि से उसकी समन्वयवादिता पर विचार करेंगे। इससे पूर्व जानकारी देना अनुचित नहीं होगा कि प्रस्तुत ग्रंथ में आचार्य ने जिस निष्पक्ष, उदार, समन्वयवादी और क्रान्तिकारी शैली का परिचय दिया है, उससे उन्होंने अपनी इस युक्ति को ही सार्थक बनाया है कि -

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषुः ।

युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यं परिग्रह ॥

यहाँ हरिभद्र की उपरोक्त स्थापना के समर्थन में मैं प्रो. सागरमल जैन को उद्धृत करना प्रासंगिक समझता हूँ। जैन परंपरा में अन्य परम्पराओं के विचारकों के दर्शन एवं धर्मोपदेश के प्रस्तुतिकरण का प्रथम प्रयास ऋषिभाषित में परिलक्षित होता है। निश्चय ही वैचारिक उदारता एवं अन्य मतों के प्रति ऐसा समादर भाव वैदिक और बौद्ध परंपरा के प्राचीन साहित्य में भी हमें नहीं मिलता। स्वयं जैन परंपरा में भी यह उदारदृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी। सूत्रकृतांग जैसे ग्रंथ में हमें अन्य दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं के विवरण तो मिलते हैं किन्तु मिथ्या अनार्य या असंगत कह कर उसकी आलोचना की गई है। भगवती में विशेषरूप से मंखलिपुत्र गोशालक के प्रसंग में तो जैन परंपरा सामान्य शिष्टता का भी उल्लंघन कर देती है। ऋषिभाषित ने जिस मंखलिपुत्र गोशालक को अर्हत ऋषि के रूप में संबोधित किया था, भगवती उसी का अशोभनीय चित्र प्रस्तुत करता है। बाद में लगभग आठवीं शताब्दी में हरिभद्र ने उसी प्राचीन परंपरा को पुनः अपनी कृतियों के माध्यम से स्थापित किया है।^१ प्रो. जैन के अनुसार इस मामले में केवल जैन दर्शन ही नहीं अपितु भारतीय दर्शन में भी हरिभद्र का वैशिष्ट्य है। उन्होंने धार्मिक उदारता और समन्वय की जिस ऊंचाई को स्पर्श किया है, उतना 2500 वर्षों में न केवल जैन धर्म के इतिहास में अपितु समस्त भारतीय दर्शन के इतिहास में किसी ने नहीं किया। अन्य दार्शनिकों के कुछ वचनांश भले ही उदारता का परिचय देते हों लेकिन ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो हरिभद्र के समान उदारदृष्टि रखता हो।^१ पंडित सुखलाल संघवी के अनुसार जब कोई विद्वान् अपने खंडनीय परंपराओं के आचार्यों का सम्मानपूर्वक उल्लेख करे तो इससे उसकी आन्तरिक भूमिका कितनी सत्यनिष्ठ और तटस्थ है, ज्ञात हो जाती है। इसी भूमिका का नाम समता या निष्पक्षता है। जब मानसिक प्रौढ़ता और सहमति होती है तो प्रतिपक्ष का निराकरण करने के बाद भी उसके मत में रहे हुए सत्यांश की खोज करने का प्रयत्न होता है। साथ ही उससे जो कुछ भी ग्राह्य प्रतीत होता है उसे वह अपने ढंग से उपस्थित करता है। इस प्रकार की प्रौढ़ता हरिभद्र के ग्रंथों में उपलब्ध होती है।^१

शास्त्रवार्तासमुच्चय में दार्शनिक विवेचन दर्शनों के अनुसार न कर मान्यताओं के अनुसार किया गया है। ग्रंथ के कुल 11 स्तबकों में से तीसरे स्तबक में न्याय दर्शन के ईश्वरवाद की समीक्षा की गई है। इस दार्शनिक मत के समर्थक ग्रंथों के प्राचीनतम स्थान न्याय वैशेषिक का है तथा इसके प्रतिवाद में अनेक परंपराएं हैं। लेकिन हरिभद्र और अन्य परंपराओं में अन्तर यह है कि हरिभद्र जहाँ समन्वयवादी, निष्पक्ष समीक्षा तथा

ईश्वरवाद की अवधारणा के प्रति मनोवैज्ञानिक कारणों की भी जाँच -परख करते हैं, वहीं अन्य परंपराएं ईश्वरवाद और विशेष रूप से ईश्वरकर्तृत्ववाद का खंडन करने का दृष्टिकोण अपनाती हैं। मनोवैज्ञानिक तौर पर हरिभद्र की स्पष्ट अवधारणा है कि मनुष्य में अपनी अपेक्षा शक्ति एवं सदगुण में विशेष समुन्नत किसी महापुरुष के प्रति भक्ति होने का, उसकी शरण में जाने का भाव स्वाभाविक रूप से होता है। इसी भाव से प्रेरित होकर वह किसी आदर्श व्यक्ति की कल्पना करता है। उसकी यह मनोवैज्ञानिक आकांक्षा स्वतंत्र सर्वगुण सम्पन्न जगत के कर्ता, धर्ता ईश्वर की कल्पना करता है। मनुष्य उसे ही अपना आदर्श और नियन्ता मानकर जीवन व्यतीत करता है। हरिभद्र कहते हैं कि मानस की यह भक्ति या शरणागति की तीव्र उत्कंठा सचमुच कोई बुरी वस्तु तो नहीं हैं। उन्होंने इस तरह से ईश्वरकर्तृत्ववाद का तात्पर्य स्पष्ट किया है ताकि ऐसी उत्कंठा को कोई ठेस भी न लगे और उसका तर्क एवं बुद्धिवाद के साथ कोई विरोध भी न हो। उन्होंने कहा है कि जो पुरुष अपने आध्यात्मिक विकास की उच्चतम भूमिका पर पहुंचा हो, वही ईश्वर है। जीवन जीने में आदर्श रूप होने से वही निर्माता, भक्ति का पात्र एवं उपास्य भी होता है। हरिभद्र का विचार है कि लोग जिन शास्त्रों एवं विधि निषेधों के प्रति आदर भाव रखते हैं वे शास्त्र और वे विधि, निषेध आदि ईश्वर प्राप्ति प्रणीत हों तो वे सन्तुष्ट हो सकते हैं और वैसी वृत्ति भी मिथ्या नहीं है। अतः अपने प्रयत्न से आत्मविशुद्धि के शिखर पर पहुंचे हुए व्यक्ति को आदर्श मानकर उसके उपदेशों के प्रति श्रद्धा की भावना रखनी चाहिए।^f

शास्त्रवार्तासमुच्चय में ईश्वरवाद की प्रस्तुति और हरिभद्र के मत से उनकी समीक्षा से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि ईश्वर के संबंध में उपलब्ध दार्शनिक परंपराओं में क्या मत व्यक्त किए गये हैं।

1. वेदान्त दर्शन में ईश्वर से ही सृष्टि और उसी में ही सृष्टि का विलय होने से उसे जगत का उपादान कारण कहा गया है। रामानुज के अनुसार एक ही ईश्वर जड़ और चेतन दोनों रूपों में अभिव्यक्त होता है।

2. न्याय दृष्टि में ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं, अपितु निमित्त कारण माना गया है। ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति कुंभकार की भांति नित्य परमाणुओं से करता है। अतः ईश्वर स्रष्टा है।

3. सांख्य दर्शन पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति द्वारा सृष्टि का विकास मानता है। इसी कारण पुरुष को कुछ सांख्य ने ईश्वर कहा है। वस्तुतः सांख्य का पुरुष जगत का द्रष्टा एवं भोक्ता है, कर्ता नहीं।

4. योग दर्शन का ईश्वर मात्र एक पुरुष है, जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित पुरुष विशेष है। क्लेशकर्मविपाकाशयेरपरंपरामृष्टः पुरुषविशेषईश्वरः १

5. जैन दर्शन में जो परमात्मा की अवधारणा है, वह योग की अवधारणा के समान ही है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि योग दर्शन में पुरुष विशेष को ईश्वर माना गया है तो जैन दर्शन ने ऐसी शुद्ध- बुद्ध-निर्विकार प्रत्येक आत्मा को ही परमात्मा माना है यानि परमात्मा एक नहीं, अनेक हैं। आत्माएं शुद्ध-बुद्ध -निर्विकार दशा को प्राप्त कर परमात्मा बन सकती है। हरिभद्र की ईश्वर संबंधी अवधाना इसी रूप में है।

न्याय और वैशेषिक जगत के सृष्टि, पालन और संहार से इतर ईश्वर की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए हरिभद्र कहते हैं कि यदि ईश्वर को इन कार्य व्यापार में लगा हुआ माना गया तो उसमें राग -द्वेष आदि की उपस्थिति माननी होगी। किन्तु राग-द्वेष के कारण ईश्वर की महानता कलंकित हो जाएगी और वह एक-एक सांसारिक व्यक्ति से अधिक कुछ नहीं होगा। इसलिए आचार्य ने उसे वीतराग वीतरुषणा कहा है। उनके अनुसार जैन सांख्य और योग दर्शन में भी ईश्वर को वीतराग माना गया है। अतः वह जगतकर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि कर्तव्य साक्षात् हो या दूसरे की प्रेरणा से, प्रयोजन की इच्छा होने पर ही संभव होता है अर्थात् जिसे किसी फल की इच्छा होती है वही साक्षात् या पर की प्रेरणा के द्वारा कर्ता होता है। वीतराग ईश्वर में फलेच्छा रूप व्यापक धर्म नहीं है, इसलिए उसका व्याप्य होने से साक्षात् या पर प्रेरणामूलक कर्तृत्व भी उसमें नहीं हो सकता।

अन्ये त्वभिदधत्यत्र वीतरागस्य भावतः १

अत्थं प्रयोजनाऽभावात् कर्तृत्वं युज्यते कथम् ? ॥

ईश्वरकर्तृत्व का खंडन करते हुए पुनः लिखते हैं कि ईश्वर कुछ जीवों को ब्रह्महत्या आदि ऐसे कार्यों में प्रवृत्त करता है जिससे कर्ता को नरक की प्राप्ति होती है और जीवों को यम- नियमादि कर्मों में प्रवृत्त करता है, जिससे कर्ता को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। प्रश्न है कि ईश्वर जीवों को विभिन्न कर्मों में क्यों प्रवृत्त करता है?

नरकादिफले कांश्चित्कांश्चित्स्वर्गादिसाधने ।

कर्मणि प्रेरयत्याशु स जन्तून् केन हेतुना ॥१

बुद्धिकर्तृत्व में भी ईश्वरकर्तृत्व निरर्थक बताते हुए हरिभद्र आगे कहते हैं कि ईश्वर किसी प्रकार के सुख पाने की इच्छा से जीवों को यह संसार रूपी खेल खेलने के लिए प्रेरित करता है तो वह अवश्य सुख के प्रति रागवान होगा और मनोविनोद के लिए

खेलता है तो उसे कष्ट के प्रति द्वेष भाव होगा। इस प्रकार उसकी वीतरागता नष्ट जायेगी। वस्तुतः जीवों को विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त करने में वीतराग ईश्वर प्रेरक नहीं हो सकता। जीव स्वयं ही अपने-अपने कर्म संस्कारों के अनुसार स्वेच्छा से सत् या असत् कर्मों में प्रेरित होता है।

**स्वयमेव प्रवर्तन्ते सत्त्वाश्चेत्त्रिकर्मणि।
निरर्थकमिहेशस्य कर्तृत्वं गीयते कथम्॥⁹**

ग्रंथकार के अनुसार सत्त्व - रजस् - तमस से युक्त पुरुष की त्रिगुणात्मिका बुद्धि स्वभाव से ही प्रवृत्तिशील होती है, अतः उसके प्रवर्तन के लिए प्रयोजन ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है और यदि है तो वह बुद्धि को स्वयं ही सम्पन्न हो सकता है, अतः उसके लिए ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास ठीक उसी प्रकार से निरर्थक है जैसे घर में ही धन की प्राप्ति संभव रहने पर धन कमाने के लिए विदेश की यात्रा करना निरर्थक है।

हरिभद्र योग दर्शन कर्म को ईश्वराधीन मानने की व्यवस्था को नकारते हुए कहते हैं कि ईश्वर की प्रेरणा से सभी कर्म फलप्रद होते हैं, क्योंकि अचेतन कर्मों में अपना कर्म फल देने का सामर्थ्य नहीं होता।

चेतन के संयोग से ही अचेतन में कार्य क्षमता उत्पन्न होती है। इस प्रकार कर्मों को फलप्रद होने के लिए ईश्वर की प्रेरणा आवश्यक है। जैन दार्शनिक मानते हैं कि कर्म अचेतन होते हुए भी शुभाशुभ फल प्रदान करने की शक्ति रखते हैं। जिस प्रकार अचेतन औषधि अथवा विष खाने के बाद अपना फल प्रदान करते हैं, उसी प्रकार जड़ कर्म भी अपना फल देने का सामर्थ्य रखते हैं। यदि कर्म स्वयं विभिन्न फलों को प्रदान करने में सक्षम न हो तो ईश्वर का अस्तित्व मानने पर भी उन कर्मों से स्वर्ग - नरक आदि फलों की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। जीवों को अपने कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है और कर्म स्वयं ही शुभाशुभ फल प्रदान करने की क्षमता रखते हैं, अतः हरिभद्र की दृष्टि में ईश्वरकर्तृत्व मानने का कोई औचित्य नहीं है, कर्मों के फल प्रदान करने में सहयोगी रूप में ईश्वर की कल्पना तो केवल भक्ति की भावना का प्रदर्शन मात्र है। यदि यह माना जाए कि ईश्वर पर आश्रित न रहते हुए कर्म में स्वयं ही फल प्रदान करने की शक्ति है तो ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में कई बाधाएं होती हैं, क्योंकि ईश्वर को कर्ता मानने पर उसकी वीतरागता खंडित होती है। ईश्वर प्रथम सृष्टि का कर्ता भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह वीतराग कृतकार्य है। उसके लिए कोई कार्य करना शेष नहीं है। अतः न तो कोई सृष्टि प्रथम है और न ही स्रष्टा बल्कि सृष्टि का प्रवाह अनादि है-

फलं ददाति चेत्सर्वं तत्तेनेह प्रचोदितम् ।
 अफले पूर्वदोषः स्यात् सफले भक्तिमात्रता ॥
 आदिसर्गेऽपि नो हेतुः कृतकृत्यस्य विद्यते ।
 प्रतिज्ञातविरोधित्वात् स्वभावोऽप्यप्रमाणकः ॥

अन्त में आचार्य हरिभद्र ने ईश्वरकर्तृत्व के संबंध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन से संपन्न वीतरागता पुरुष रूपी परमात्मा को ही ईश्वर माना है। उनका मत है कि ऐसे परमात्मा द्वारा दिखाये गए सम्यक् मार्ग का अनुसरण ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है। परमात्मा को मोक्ष प्रदान का प्रदाता या प्रेरक भी कहा जा सकता है। यह जीवात्मा ही अपने शुद्ध बुद्ध रूप में परमात्मा है और स्वरूप को वह स्वयं ही अपने कर्मों का क्षय कर प्राप्त करता है, उसका कर्ता भी वह स्वयं ही है।

**ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात्
 यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्ता स्याद गुणभावतः ॥¹¹**

इस प्रकार हरिभद्र ने ईश्वर सम्बन्धी चिंतन में मुख्य रूप से निर्विकारत्व, वीतरागता और सर्वज्ञत्व को ही महत्व दिया है। तात्त्विक दृष्टि से शुद्ध होने के कारण जीव ही परमात्मा का अंश है और अपने अच्छे-बुरे कर्मों का कर्ता भी है। इस दृष्टि से देखा जाये तो जीव ईश्वर है और वही कर्ता भी है। ईश्वरकर्तृत्ववाद को एक अलग अर्थ में स्वीकार कर हरिभद्र ने जैन दर्शन के साथ इसका तादात्म्य ही स्थापित किया है।

संदर्भ

- | | |
|--|---|
| 1. लोकतत्त्वनिर्णय, श्लोक 38 | 7. शास्त्रवार्तासमुच्चय,
दिव्य ट्रस्ट मुंबई, अहमदाबाद,
हिन्दी व्याख्याकार |
| 2. हरिभद्र का अवदान,
सागरमल जैन पृ. 2-3 | पं. बदरीनाथ शुक्ल स्तबक 3, श्लोक 4 |
| 3. वही, पृष्ठ 4 | |
| 4. समदर्शी आचार्य हरिभद्र,
सुखलाल संघवी पृष्ठ 53 | 8. वही श्लोक 5 |
| 5. आचार्य हरिभद्र की दार्शनिक दृष्टि,
शोध प्रबंध, संगीता झा पृष्ठ 134 | 9. वही श्लोक 6 |
| 6. पातंजल योगसूत्र, अध्याय 1,
समाधिपाद सूत्र, 24 | 10. वही श्लोक 7-8 |
| | 11. वही श्लोक 11 |

द्वारा वृजपाल चौहान
 ए-19, समसपुर पाण्डवनगर
 दिल्ली - 110 091

Ācārāṅga-Bhāṣyam

— Ācārya Mahāprajña

CHAPTER - II

PONDERING OVER THE NATURE OF THE WORLD

SECTION - 6

2.148 se taṃ saṃbujjhamāṇe, āyānīyaṃ samuṭṭhāe.

The monk who has rightly understood (the above mode of treatment), carefully practises the commendable self-restraint.

Bhāṣyam Sūtra 148

The person comprehending the aforesaid mode of treatment should resolve that this should not be followed by a person of self-discipline. He should observe self-restraint, being vigilant and self-aware.

‘Commendable’ refers to the self-restraint consisting of knowledge, faith and conduct.

‘Careful practice’ stands for vigilance for the devout practice of knowledge, etc.

2.149 tamhā pāvaṃ kammaṃ, neva kujjā na kārave.

Consequently, he should not commit any evil deeds himself, nor get it done by others.

Bhāṣyam Sūtra 149

He has cultivated vigilance for observing commendable self-restraint. For that reason, he should not commit any evil act, not get it done by others. The Cūrni¹ explains the evil act as violence together with other misdeeds,

eighteen in all, upto the thorn of wrong faith. But here the issue under consideration is treatment involving violence. In the Sūtra, there is no mention of the approval of an evil act, but the Curni² includes that too.

2.150 siyā se egayaram vipparāmusai, chasu aṇṇayaramsi kappati.

It is possible that he (the heretic) chooses a particular species of living being as permissible for the violence.³ But in fact he indulges in violence to all the six classes of living beings.

Bhāṣyam Sūtra 1 5 0

May be, sometimes, a person causes injury to a particular class of living beings due to non-vigilance. At that time, he virtually is engaging himself in injury to all classes of living beings just as a potter while making a jar primarily causes injury to the earth-bodied beings, but incidentally he happens to do injury to water, fire, air, vegetation, and even to mobile beings.

There is an alternative way of exposition. A person who causes injury to one living being virtually causes injury to all living beings, because he has not taken the vow of abstinence from injury to all living beings. A person who does not take the vow of abstinence from injury to any living being is liable to indulging in injury to all kinds of living beings.

2.151 suhaṭṭhi lālapamāṇe saena dukkheṇa mūḍhe vipariyāsamuveti.

In search of happiness he desires for it again and again. Deluded by the suffering produced by himself, he gets bewildered on attaining suffering in place of happiness.’⁵

Bhāṣyam Sūtra 1 5 1

To the query: ‘for what purpose does a person indulge in acts of injury?’ The Sūtra answers: there are two classes of people: those engaged in the search of self, and those engaged in the search of worldly pleasures. The person who is engaged in the search of worldly pleasures indulges in injury to life. He hankers after pleasure again and again.⁶ While craving for pleasure, he earns sufferings’. On account of its being the cause of suffering, any kind of worldly act is in fact nothing but suffering. Being deluded on account of the suffering earned by himself, he meets adverse situations. Hankering after pleasure, he gets pain.

Delusion consists in non-discrimination between the wholesome and the unwholesome, the good act and the bad act, the worthy and the unworthy of

being avoided. On account of his delusion, he is incapable of knowing whether what was done for pleasure will turn out a source of suffering. This is why he engages himself in injuring earth-bodied beings and the like for his own happiness or the happiness of others. And as a consequence, he experiences interminable suffering.⁷

2.152 saeṇa pānā vippamāeṇa, puḍho vyaṃ pakkuvvati.

On account of his overpowering non-vigilance, he creates his own cycle of transmigration.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 5 2

The hankering after pleasure generates non-vigilance. On account of his own overpowering non-vigilance, he creates for himself the cycle⁸ of transmigration.⁹

2.153 jaṃsime pānā pavvahiya, paḍilehāe no nīkaraṇāe.

The monk should not indulge in what involves torture of living beings and understanding this, he should avoid devising any action¹⁰ for violence and possessiveness.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 5 3

The creatures undergo suffering in the cycle of transmigration created by their own non-vigilance. They subject themselves to pain on account of their physical and mental miseries. Observing and rightly comprehending this, he should not set about committing violence and acquiring possession, that are the source thereof

2.154 esa pariṇṇā pavuccai.

'This¹¹ is comprehension' said the Lord.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 5 4

Not setting about committing violence or acquiring of possession is called comprehension.¹²

2.155 kammovasamti.

Such comprehension is calming down of karma.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 5 5

There is tranquillization of karma due to the non-accumulation of possessions. This is the reason why not setting about doing any evil deed is also called tranquillization of karma.¹³

Tranquillization of karma means not acquiring new karma and getting rid of the old ones.

2.156 je mamāiya-matim jahāti, se jahāti mamāiyam.

The monk who gets rid of the mind of possessiveness abandons possessiveness.

Bhāṣyam Sūtra 1 5 6

The disposition of 'mine'-ness is possessiveness. The instinct of 'mine'ness is the inclination to 'mine' -ness. The possessiveness is in respect of animate and also inanimate objects. For instance, my mother; my father; my house; my land. The person who frees his mind of possessiveness succeeds in truly getting rid of possessive instinct in respect of animate and inanimate things.

On this topic, the *Cūrni* (p.92)¹⁴ has given the example of *Bharata Cakravartī* who got rid of his instinct of 'mine' -ness when he entered the palace fitted with mirrors all round (dressing room). 'I do indeed dwell in the palace', observed an ascetic but in your case the palace dwells in your mind.' The implication is that unless and until the instinct of 'mine' -ness settled in the mind is not given up, the sense of possessiveness in respect of external things cannot be got rid of. It is, therefore, necessary to clean the mind at the start.¹⁵

2.157 se hu ditthapahe muṇi, jassa natthi mamāiyam.

Only the monk who has no passion of 'mine' -ness has seen the path.

Bhāṣyam Sūtra 1 5 7

Due to 'mine' -ness, the path becomes perverse and the knowledge too. The person who is free of possessiveness has seen the path. Such monk is truly wise. On the dissolution of the knot of 'mine' -ness only, one can achieve the right intuition and knowledge. This is the implication of the Sūtra.

2.158 tam parinnāya mehāvī.

The prudent monk should know and abandon possessiveness.

Bhāṣyam Sūtra 1 5 8

The intelligent monk should understand the nature of possessions through comprehension qua knowledge and give them up through comprehension qua abandonment.

2.159 *vidittā logaṃ, vaṃtā logasṃnam, se matimaṃ parakkamejjāsi tti bemi.*

Knowing the nature of the world, giving up the instinct of 'mine'ness, the intelligent monk should exert himself - thus do I say.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 5 9

The intelligent monk should know the 'world' and give up the 'world-instinct' and strive. Thus do I say.¹⁶ Here 'world' means greed for possession.

The 'world-instinct' means the inclination to greed or the inclination to possessiveness.

The implication of these two words is that one should know, first of all, the nature of possessions and thereafter should purge himself of the instinct, inclination or tendency thereof. This gives the complete course of achieving non-possessiveness.¹⁷

2.160 *ṇāratim saḥate vīre, no saḥate ratim.*

jamhā avimaṇe vīre, tamhā vīre ṇa rajjati.

The heroic monk does not succumb to ennui, nor to relish. Being free from all ideation, he is equanimous and not attached to anything.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 6 0

Sometimes even to a person striving for eliminating the 'world instinct', there arises aversion toward penance, self-control and self-restraint. Sometimes there arises in him attachment to non-restraint with regard to sensual objects, passions, etc. The courageous monk does not succumb to aversion or attachment.¹⁸ He immediately gets rid of them. The Sūtra defines the way to such riddance. Both these tendencies can be restrained through emptied mind. Aversion and attachment are the two special states of the mind. When the waves of these states arise, the person loses control of his mind. If the waves are inhibited as soon as they arise by the power of meditation, that is, they are not entertained even for single moment, and instantaneously the mind is emptied of objects or concepts, the aspirant attains the state of mindlessness. The courageous monk takes resort to analytical meditation, which is of the nature of contemplation, through spiritual exertion resulting in loss of interest in sensual objects, desirable and undesirable, such as sound, colour, etc.

The perception, expulsion or inhibition of the waves of aversion and attachment as soon as they arise, and not submission to them for a single moment is effected by self-awareness which is possible only by the practice of mindfulness. This is the secret of the cultivation of mindfulness.

The monk should avoid both ennui to spirituality and relish to sensuous objects which are harmful to his spiritual discipline as they impede his power of concentration on the spiritual path. The only way to get rid of these two impediments practicing analytical meditation and strengthening the faith in the discipline. The ennui and relish are due to non-vigilance and unmindfulness.¹⁹

2.161 sadde ya phāse ahiyāsamāṇa.

The monk endures sound and touch without any reaction.

Bhāṣyam Sūtra 1 6 1

The monk practising the discipline hears many abuses from the people. Some people may say that he has undertaken monkhood being unable to bear the burden of the family; others may say that he was a eunuch and so has become a monk.

While practising the special austerity in a cemetery, the monk hears dreadful hoarse laugh made by forest gods. Similarly physical torture he has to endure, which is generally made by humans, while in the case of practice in the cemetery it is made by forest gods.

A monk engaged in the spiritual discipline should perceive and endure the sounds and touches (without any reaction).

The implication is: The monk should not develop attachment or aversion towards the desirable and undesirable sounds and touches. The absence of any conceptual activity of the mind is the only means to inhibiting attachment and aversion. This is an example of the contemplative meditation on the 'pitfall' and 'means to liberation'.

2.762 nivviṃḍa namdiṃ iha jīviyassa.

Withdraw your attention from the allurements of worldly life.

Bhāṣyam Sūtra 1 6 2

You should develop disgust for the lust,²⁰ i.e., mental satisfaction, in respect of life or life-force or bio-electricity arising from sounds and touches. The

implication is that you should cultivate detachment in such circumstances. In this way the attachment and aversion will find an easy endurance.

2.163 muṇi moṇaṃ samādāya, dhūṇe kamma-sarīragam.

Having undertaken the monastic discipline, the monk should shake up his karma-body.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 6 3

A monk²¹ following his monkhood, should shake off his karma-body.

'Monk' means a wise person.

'Monkhood' means knowledge or self-restraint.

The Sūtra 4.32 reads 'the monk should shake off his body.' The *Curni* as explained 'body' primarily as karma-body²² and secondarily as the gross body.²³

In the *Sutrakṛtanga*,²⁴ there is explicit mention of the gross body in this connection. The *Curni* has clearly shown the relationship between the gross and the karma-body.²⁵

In the concept of physical penance, the shaking off of the impurities of the gross body is the primary purpose while the shaking off of karma-body is only incidental. In the context of meditation, however the direct reference is to the karma-body, the gross body being only the secondary position.²⁶

In the present description, both the ways of shaking off of the karma-body are mentioned. In the three Sutras 1 6 0-1 6 2, meditation as the means is quite evident. In the Sutra 1 6 4, the restriction of food as the means is clearly mentioned. What is to be understood in this connection is that unless the gross body is Shaken off, the karmna body cannot be. Therefore, here, the shaking off of both the gross body as well as the mind in the gross body is evidently implied.²⁷

2.164 paṃtam lūham sevamti virā samattadamśino.

The heroes with the vision of equality consume insipid and dry food.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 6 4

Restraining consumption of food is a means to shaking off the karma-body. Everybody is not capable of such restraint. Only the heroic one, on account of their sufficient psychic power of stamina can do so. A person without the

attitude of equality to the agreeable and disagreeable is also unable to do so. The equally disposed people alone can succeed in such restraint and enjoy the stale sapless²⁸ food. In the *Cūrni*,²⁹ the attitude of equality has been substituted by 'right vision'. The persons with wrong vision not capable of restraining their food habit.

2.165 esa oghamtare muni, tinne mutte virate, viyāhite tti bemi.

The monk who has crossed the stream of birth and death is designated 'the crosser', 'the liberated', 'the detached' - thus do I say.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 6 5

The monk described in these Sutras (1 6 0-1 6 4) is said to have crossed the stream of life, gone to the other shore, liberated, and free from attachment.

The crosser of the stream is so called because he has crossed the stream of the habits and instincts produced by karma or the cycle of worldly life.

2.166 duvvasu muṇi aṇāṇāe.

The monk who does not obey the commandment is poor in spirituality.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 6 6

The monk who does not abide by the commandment of the *Jina* is a poorly disciplined person. The commandment of the *Jina* consists in not succumbing to ennui and relish, endurance of pleasing and unpleasing sound and touch, inhibition of interest in material things, shaking off of the karm-body, consumption of insipid and dry food. The commandment of the *Jina* is truly the treasure. The monk who transgresses the commandment is unlucky. He is poor in the practice of the discipline. The internal reason for not following the commandment is the rise of the past karma. The external cause is environment.

2.167 tucchae gilāi vattae.

The monk who is not loyal to the discipline fights shy of expounding the truth.

Bhāṣyaṃ Sūtra 1 6 7

A person without wealth and fortune is materially empty. The person not following the commandment is spiritually empty. This is why he fights shy

of telling the truth. It is a universal truth that a person devoid of good conduct cannot speak the truth. He does not propound the pure discipline because he hankers after personal admiration, glorification and the likes. If he is empty of the basic virtues, he would decline to explain them. If he is empty of secondary virtues, he would propound them in a perverse way. This empty state or lack of good conduct is the main cause of wrong exposition of the discipline, which results in a mass of excuses advanced in support of the wrong way of living.

2.168 esa vire pasamsie.

The courageous observer of the discipline is praiseworthy.

Bhāṣyam Sūtra 1 6 8

A person of such courageous attitude is well confirmed in the commandment. He is endowed with the wealth of discipline. He has spiritual plenitude, as he is the practiser of good conduct. Such a person is not tired of preaching the pure path of non-possession whether asked or not. That a person of good conduct can never speak what is untrue is a truism. Owing to his power of the genuine exposition of the discipline, as a courageous person of strong will he finds an honourable place in the heart of the people.

2.169 accei loyasamjoyam.

He transcends the worldly involvement.

Bhāṣyam Sūtra 1 6 9

It is only the person of such strong will that can transcend his association with the world.

Here 'world' stands for things like gold, silver and the like or the relations like mother, father, etc., or the possessive instinct. Various types of relationship are determined by these objects. Only the courageous ones can do this.

2.170 esa nāe³⁰ pavuccai.

He is called the guide.

Bhāṣyam Sūtra 1 7 0

The person who transcends association with the world is worthy of being called the religious guide. The person who is entangled in wealth or family

is not entitled to guide. The chief merit of the spiritual guide is the power of renunciation.

2.171 jaṃ dukkhaṃ paveditaṃ iha mānavānaṃ, tassa dukkhassa kusalā parinnamud gāharaṃti.

The adept monks explain the process of comprehending and getting rid of suffering, as experienced by the humans.

Bhāṣyaṃ Sūtra 171

People know what is suffering. They experience suffering. The expert seers explain the comprehension and abandonment of suffering.

Here the word 'adept' refers to the immediate disciples of the Lord. They were knowledgeable persons endowed with the supernormal power of delivering religious discourses. They practised what they preached. They had conquered sleep, the senses and the hardships. They had the knowledge of right action at right place and right time.

'Comprehension' means discrimination or the way that leads from suffering. It consists of four parts: there is bondage, there is cause of bondage, there is liberation and there is way of liberation.'

2.172 iti kamma pariṇṇāya savvaso.

The monk should comprehend the nature of karma in all respects.

Bhāṣyaṃ Sūtra 172

Karma is the cause of suffering. Therefore, one should thoroughly comprehend karma and judge it thus: How is the karma bound, who binds it, when does it fructify and when it does not, what is their duration, which of them would continue for a long time and which for a short period? In this way by knowing everything about the karmna in all respects, it is possible to abandon it.

2.173 je aṇaṇadaṃsi, se aṇaṇārāme, je aṇaṇārāme, se aṇaṇadaṃsi.

The monk who perceives the pure nature of soul practises the pure discipline. The monk who practises the pure discipline perceives the pure nature of soul.

Bhāṣyaṃ Sūtra 173

In the present Sutra, the means to the comprehension of the *karma* is explained. The person who concentrates upon the self as free from passions

and activities and does not divert his attention to anything else is a person of undistracted vision. One who concentrates on karma, that is, remains entangled in karma is bound by karma. One who perceives his pure self as essentially free from all dirt of karma is liberated from karma. The person who rivets his attention on pure consciousness does necessarily revel in it and not in anything else that causes karmic bondage, nor in sensual objects and passions. In this way, one who has undistracted vision enjoys undistracted bliss. Conversely it can be said that he alone who practises nothing but pure discipline perceives nothing other than his self.³²

The meaning of the expression 'perceiver of the pure soul' is clarified by the expression 'perceiver of the soul freed from karma' in the following sūtras:

By cutting down attachment and aversion by means of self-restraint and penance, the monk perceives his pure self free of karma (3.35).

Extirpating all outward tendencies of the senses, experience your soul as freed from karma in this mortal world (4.50).

2.174 jahā punṇassa katthai, tahā tucchassa katthai, jahā tucchassa katthai, tahā punṇassa katthai.

Whatever is preached to the fortunate is preached to the unfortunate; whatever is preached to the unfortunate is preached to the fortunate.

Bhāṣyam Sūtra 174

In the absence of self-realization, equality cannot materialise in practical life,. The person who has realized the self does not strive for anything else. He exerts only for the realization of the self. And therefore, he explains the principle of non-possession in the same manner to the person of a low status as to that of a high status. Conversely he explains it in the same manner to the high as he does to the low. Religion should be preached only for the purpose of shaking off the karma.⁵³ 'The person who contemplates on the self preaches the religion for the same purpose. And, therefore, for him, the discrimination between the high who possesses fortune and the low who suffers from poverty becomes senseless.'³⁴

The principle of non-possession is equally beneficial to the rich and the poor. Although there is fortune with one, and absence of fortune with the other, clinging is active in both. And, therefore, the instruction of the principle of non-possession is to be imparted with the same seriousness to

the poor as to the rich, in order to get them released from clinging. No special attention should be given to the rich. The doctrine should be preached to the rich with same care as to the poor, and there should be no feeling of hatred towards the rich.

2.175 avi ya haṇe anādiyamāṇe.

Feeling offended, the heretic may strike the preacher.

Bhāṣyaṃ Sūtra 175

If the preacher of the essence of religion expresses any sort of disrespect towards any person, the person held in disrespect may hurt the preacher. The hurting here implies physical assault, or anger or rejection of the religion propounded by him. Unpleasant remarks like “these rich people are thieves” do not help the teacher to convince the rich of the merit of the religion. Similarly the comment such as ‘these poor people are born in low families due to their demeritorious deeds, they have uncomfortable beds, live in poor houses, eat rotten food, and so on’ are not beneficial to the propagation of the doctrine. On the contrary, such remarks and comments would dissuade the people from repeating their visits to the preacher and instigate them to abuse the preacher instead.

2.176 etthampi jāṇa, seyaṃti naṭṭhi.

You should know that imprudent preaching is not beneficial.

Bhāṣyaṃ Sūtra 176

Obsession with a fixed idea or attachment to a particular thought is a kind of possessiveness. A person engaged in the cultivation of non-possessiveness should explain his own thoughts in a manner that the non-possessive attitude of himself as well as the listener may develop in a proper way.

One should appreciate in this connection that one should exercise his power of discrimination in propounding the essence of religion. Nothing good will result in the absence of discrimination. The discrimination of one’s own power and ability is the first step. A preacher possessed of the extraordinary ability for religious sermons should take resort to didactic narrative of all the four types namely:

1. *ākṣepaṇī*: tale producing attraction towards knowledge and conduct
2. *vikṣepaṇī*: tale propounding the right path
3. *saṃvejaṇī*: tale producing fear for worldly life
4. *nirvedaṇī*: tale producing disgust for worldly life.³⁵

A beginner should restrict himself only to the first two types of narratives. He should not touch any topic concerned with philosophy. If a person of immature knowledge embarks upon philosophical discussion, he may fail to solve the intricate problems that may arise, and consequently would land himself upon untoward situation.

The second step is the discrimination about the locality. The preacher should know the nature of the philosophy that prevails in the locality, before embarking upon religious discourses through deductive narratives. Otherwise there may arise unnecessary disputes ending in undesirable consequences.

The third step is the discrimination about the time. The religious sermon should be delivered with due regard to the occasion.

The fourth step is the discrimination about the inclination and attitude of the audience. This is directly stated in the Sūtra that follows-

2.177 ke yaṃ purise? kaṃ ca ṇae?

The preacher should know the person whom he preaches and also the doctrine the latter believes in.

Bhāṣyaṃ Sūtra 177

In connection with religious discourses, a due estimate should be made about the nature of the listener as to whether he is fortunate or unfortunate, whether he is of mild or harsh nature, whether he is a man of faith or inclined to rational argumentation, whether he is inquisitive or prone to disputes.

Moreover, the inclination of the person regarding the philosophy or the philosopher he is devoted to or convinced of should be ascertained.

2.178 esa vīre paṣaṃsie, je baddhe paḍimoyae.

Praiseworthy indeed is the hero who redeems those who are bound by karma.

Bhāṣyaṃ Sūtra 178

The monk who delivers religious discourses in the above manner and redeems people from karmic bondage is indeed worthy of being extolled as the best³⁶ among the religious preachers. People indeed are bound by their predispositions, past karmas, and impressions created thereby, and possessiveness. The aforesaid religious preacher devoid of the power of

discrimination cannot redeem them from those predispositions etc. Only the preacher who is free from obsessive notions, and is possessed of non-absolutistic attitude, reconciling spirit and feeling of equality can redeem them. Such person is held in high respect everywhere on account of his personal goodness.

2.1 79 uddham aham tiriyaṃ disāu, se savvato savvapariṇṇacāri.

Such monk is guided by his all-pervasive power of comprehensions in all direction: above, below, and horizontal.

Bhāṣyam Sūtra 1 7 9

Such person, being free from possessiveness, behaves with full power of comprehension, exerting his whole personality in all directions - above, below and horizontal -at all times. He experiences absolute distinction between the soul and body and performs the necessary duties not being swayed by attachment and hatred. This is, indeed, the result of his conduct with all embracing power of comprehension.

2.1 80 na lippai chaṇapaṇa vīre.

He is not tainted by the acts of violence.

Bhāṣyam Sūtra 1 8 0

Such hero does not get stained by the acts of violence. Who, and in what manner, can remain untainted in this world full of sentient beings and non-sentient objects of temptation? Every moment there arise occasions for temptation of violence and possessiveness. But inspite of all this a person of good conduct with all embracing power of comprehension perceives the absolute distinction between soul and body and does not lend himself to possessiveness. Violence is born of possessiveness. The person free from possessiveness lives in vigilance and self-awareness, and so he does not get tainted by violence even when engaged in worldly activities.

The present Sutra discloses the heart of the principle of nonviolence and defines the distinction between physical and spiritual violence.

The doctrine of the untainted state of the soul is very ancient. This is found in the *Uttarad-yayana*, 25/39 which says: "Tainting takes place in the case of the person who is addicted to sensual objects but it does not affect him who is free from such addiction." In the *Bhagavad Gita* also it is propounded that tainting does not occur in a person endowed with equanimity:

“Even when engaged in any activity, a person is not tainted by it, if he is equanimous, pure, self-conquerer of self, subduer of the senses, and identified with the self of all other beings.”³⁸

2.181 se mehāvi aṇugghāyanassa kheyanne, je ya bamdhappamokkhamāṇesi.

The monk who is in search of liberation from bondage is intelligent and the realizer of the secret of non-injury.

Bhāṣyam Sūtra 1 8 1

The wise man who is in search of the release from karmic bondage acquires knowledge of non-injury. ‘Injury means violence. ‘Non-injury is nonviolence. There is karmic bondage due to violence. And therefore, for the release from bondage, the knowledge of non-violence and also nonpossessiveness which is the condition of the non-violence is indispensable. In the *Cūrni*, the explanation of the word ‘*aṇugghayana*’ is given differently: *anam*³⁹ means karma; its *udghātanam* means production (*utpadanam*). The wise man knows the cause of production of karma.

2.182 kusale puṇa ṇo baddhe, ṇo mukke.

The adept is neither bound nor unbound.

Bhāṣyam Sūtra 1 8 2

In investigating the problem of liberation from bondage, the curiosity naturally arises: ‘Is the release from bondage possible in this world fraught with possessiveness and violence? In reply the Sūtra says: The adept is the person who is guided by all pervasive power of comprehension.⁴⁰ He is also called the liberated in embodied existence.⁴¹ Even while living in this world, he is not bound by any sort of attachment to worldly things, that leads to karmic bondage. He is however not released from the bare necessities of life.⁴²

While engaged in activities with full self-awareness, he does not produce any kind of bondage, even though he is not disengaged from all activities.

In the *Cūrni* and the *Vṛtti*, other explanations are also available:

1. The wise man is not bound by unwholesome tendencies such as non-abstinence. He is not devoid of wholesome tendencies such as good conduct and penance.

2. The wise man is not affected by the experience of suffering liberated in embodied existence as he is. But as he lives in the world that is full of suffering, he is not liberated from the latter.

The adept one is he in whom attachment is absolutely extinct. He does not incur long term bondage caused by passions, which is the seed of worldly life. He is however not absolutely liberated, because there are some karmic veils and the like that still linger on until he attains disembodied liberation.

Or, the adept one is the omniscient *Jina*. He is not bound by the knowledge-covering veils and the like. Still he is not free from the nondestructive karmas that are responsible for embodied existence in the world.

2.183 se jaṃ ca ārabhe, jaṃ ca nārabhe, anāradhaṃ ca nārabhe.

The adept engages himself in some acts and disengages from others. Other monks should not engage in acts not practised by the adept.

Bhāṣyam Sūtra 1 8 3

For the release from bondage, scriptural injunctions and prohibitions should also be properly comprehended. Whatever is done by the adept, whatever he practises is affirmative injunction. Whatever he does not practise is prohibition. These two are the conditions of the release from bondage. The performance of what is prohibited by the adept is the condition of bondage. Therefore, an aspirant to the release from bondage should not indulge in what is prohibited by the adept. One may practise according to his capacity what is practised by the adept, but one should not do what is not approved by the adept. The injunction 'one should not do what has not been practised by the adept' has been introduced in order to bring home the aforesaid truth.

2.184 chaṇaṃ chaṇaṃ pariṇṇāya, logasannaṃ ca savvaso.

The monk should comprehend and abandon every occasion of violence. Similarly he should comprehend and abandon the dispositions that promote worldly life.

Bhāṣyam Sūtra 1 8 4

The worldly disposition stands for possessiveness or attachment to worldly things. Thoroughly comprehending, that is, discriminating that the worldly disposition generates violence, he should-give that up. Along with that he should renounce the violence generated by the worldly disposition. In the

present Sūtra, the causal relation between the possessiveness and violence has been established. The worldly disposition is the 'cause' and 'violence' is the 'effect'.⁴³

2.185 uddeso pāsagassa natthi.

The seer is not amenable to description.

Bhāṣyam Sūtra 1 8 5

The person who can see the pitfall of possessiveness and the merits of non-possessiveness does not need any description. By what an object is described is the 'description'. For example, 'this person is in worldly bondage', 'this person is liberated', 'this person is happy', 'this person is unhappy', and so on. For a person who has perfected the virtue of non-possessiveness and achieved the state of a pure indifferent seer, there is no need of description that indicates bondage or release. A seer is simply a seer. By dint of his pure seership, he is not subject to the states of bondage or release. A person who succumbs to temptation of possessions or worldly things is not worthy of being a seer. One who experiences pure consciousness only is a worthy seer.

Here the word 'description' stands for any qualification of the subject. In the concluding part (aphorism 87) of the third chapter, it has been asserted that 'a seer has no qualification.' The word description should be construed with the word qualification for the purpose of interpretation. The person who experiences the states of happiness and misery caused by karma, acquires qualification,⁴⁴ and to such person alone is the description applicable. The person who experiences pure consciousness has nothing to do with such description.⁴⁵

2.186 bāle puṇa ñiḥe kāmasamaṇunne asamiyadukkhe dukkhī dukkhānameva āvaṭṭaṃ aṇupariyaṭṭai. - tti bemi.

An ignorant person is full of affection and he desires pleasurable things. His suffering is not mitigated. Being miserable he revolves in the whirl of suffering. - Thus do I say.

Bhāṣyam Sūtra 1 8 6

The person who is not a seer is called an ignoramus though he may be aged or young, because he is ignorant and dominated by greed and ignorance. He indulges in enjoyments indiscriminately and is surfeited with- lust. He

relishes sensuous objects, and as a result, fails to get rid of his sufferings, leads a miserable life and is caught up in the whirlpool of miseries.

The enjoyment of sensual objects, even though it produces temporary satisfaction, is sure to cause misery in the long run. Such enjoyment, therefore, is nothing but unalloyed misery. The implication is that the person who approves of desirable objects cannot cross the whirlpool of misery.⁴⁶

References :

1. Ācārāṅga Cūrṇī, p. 89 : pāvaṃ — hiṃsādi jāva micchādamaṣaṇassallaṃ.
2. Ibid, p. 89 : satam ṇa kujjā ṇo aṇṇehiṃ kārave kareṃtam paṇnam ṇāṇumodae, aṇumodaṇā akara-ṇākāraṇeṇa gahitā, ṇavae ṇavabhedeṇa.
3. Apte, parāmarśaḥ—violence.
4. One who causes violence to any one (system of living beings) can cause violence to anyone of the six systems of living beings (i.e. he causes violence to all the six systems). — In the background of this Sūtra, there underlies the ideology of non-violence and friendliness.

For a *sādhaka*, violence to all living beings is prohibited. This total prohibition creates the right temperament towards non-violence. If the killing of a particular system of beings is allowed and that of another system or systems of beings is prohibited, the right attitude towards non-violence cannot be friendly towards other systems of beings. In the epoch of Bhagavān Mahāvīra some friars used to justify themselves by saying that they killed no other living beings except beings of water-body. Some ascetics, belonging to the Śramana tradition, used to profess, 'We perpetrate violence only for food and for no other purpose.'

When Bhagavān Mahāvīra's disciples used to pass through the paths of the jungle, there was a dearth of 'inanimate water' (Cf. 1.54-55). In many cases monks died of thirst. It is probable that a question might have been raised as to what harm might accrue from drinking animate water under those dire circumstances.

Bhagavan Mahāvīra, after weighing the pros and cons of the issue, observed that an aspirant whose mind was filled with a dormant feeling of violence even towards a single system of beings could not stride the path of absolute non-violence. Therefore, the spirit of friendliness should be very dense in the mind of a sādhaka. There should not remain the least trace of indulging in violence to any system of living beings.

The present Sūtra is in the context of acquisitiveness. Therefore, another interpretation of this Sūtra is possible in the context of acquisitiveness.

Violence, untruth, stealing, non-celebracy, acquisitiveness and post-sunset dinner — these are six *avratas* (i.e. infringement of the six vows). Is it possible that anybody practising anyone of these six infringements can save himself

from the non-observance of the other vows? Can any one who is acquisitive save himself from causing violence? Can any one practising violence save himself from acquisitiveness? In reply to all these questions Bhagvān Mahāvira laid down the following principle — There are two fundamental evils - attachment and aversion. Violence, acquisitiveness etc. are nothing but their modifications. Motivated by attachment and aversion, if anyone practises acquisitiveness, he also commits violence etc. Complete forswearing of all the six *avratas* can be done jointly only and not separately. It is not possible that a *muni* may practise non-violence but not non-acquisitiveness or may practise non-acquisitiveness without practising non-violence. 'These great vows (i.e. mahāvratas) are practised simultaneously or violated simultaneously. They are acquired when *pratyākhyānāvaraṇa-kasāya* (which is one type of passion) has subsided, while they are violated when it comes into force. The *mahāvratas* cannot be observed or violated in any number less than six. Therefore the above principle can be enunciated in the context of acquisitiveness as follows: One who violates the vow of non-acquisitiveness also violates other *Mahāvratas*, namely, non-violence etc.

5. See, Āyāro 2.60,69.
6. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 90 : accatthaṃ— puṇo lappamāṇo lālappamāṇo, ja bhanitaṃ suhaṃ patthemāṇo.
7. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 91 : so mūdhattā ṇābhiyāṇati jahā appassa suhassa kāraṇā puḍhaviikkāyātisa-māraṃbheṇa aṇaṃtakālaṃ saṃsāre aṇubhavati dukkhaṃ, jahā attatṭhā tahā paraṭṭhavi, mātāpitimādiṇaṃ kāraṇā puḍhavi mādi samārabhati tato vipariyāsaṃ eti.
8. Etareyabrāhmaṇa, adhyaya 12, khanda 8 : 'vayah suvarṇā upasedurindramityuttamayā paridadhāti.' sāyanācāryana svabhāsyē veterdhātortyarthasya vāya iti rupam sammatam.
9. Ibid, p. 91 : vicchīṇṇo vayo asubhadīhāyamaṇeṇagavihaṃ vā vāyamaṇ patteyaṃ patteyaṃ chasu jivanikāesu āyamaṇ, puṇo puṇo va vāyamaṇ puḍhovāyamaṇ - bhisaṃ kuvvati.
10. Cf. Āyāro, 1.61
11. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 89 : jā esā vuttā pāṇāvāyāiṇamaṇ akaraṇā.
12. See Āyāro, 1.9.
13. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 91 : pariṇṇā kammovasamti tti vā egatṭhā.
 (b) Man performs actions (*karma*). Actions in themselves have no motives. They are performed for fulfilling certain aims. There are certain necessities of life, the fulfilling of which requires actions. It is one thing to act in order to fulfil certain necessities and it is quite another thing to search for a necessity in order to act. When the mind is full of attachment, we create artificial necessities. By this, our problems multiply. The actions of one who is free from attachment get reduced to bare necessities. Simultaneously, the bondages of *karma* particles which are caused by actions also subside.

14. Bharahasāmiṇā ādamsaghare pavitṭheṇaṃ mamikāramati jadhā.
15. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 92 : evaṃ aṅṅesuvi vayesu āyojjaṃ, asyādhāreṇa evaṃ racitam syāt- je pāṇāvāyamatim jahāti, se jahāti pāṇāvāyaṃ.
Je musāvāyamatim jahāti, se jahāti musāvāyaṃ.
Je adinnādāṇamatim jahāti, se jahāti adinnādāṇaṃ.
Je abambhaceramatim jahāti, e jahāti abambhaceram.
16. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 93 : evaṃ titthagara āṅāe bemi, ṇo svecchayā, ahigārasamattie evaṃ bemi, ṇa ajjhayaṇasamattie.
17. Cf. Āyāro, 3.25
18. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 93: na iti padisedhe sadhanam marisaṇam, jatināma kadāyī tassa parakkamato tava ṇiyamasamjamesu arati bhavējjā tato taṃ khaṇamittamavi ṇa sahati, khippameva jjhāṇeṇa maṇato nicchubhati— ṇivvisayaṃ kareti, vira iti —
vidārayati tatkarma, tapasā ca virājate.
tapoviryeṇa yuktaśca, viro vireṇa darśitaḥ..
jaheva samjame aratiṃ ṇa sahati taheva visayakasāyādilakkhaṇe asaṃjame jati kahaṃci tassa ratī uppajati taṃpi khaṇamittamaviṇa sahati — ṇa khamati, dhammajjhānsahagato uppaṇnamittam ṇikkasati, jaṃhā avimaṇe'jaṃhā so ethhāṇitthesu pattesu visaesu dhiti balaassito avimaṇo bhavati, ahavā jaṃhā so samjame aratiṃ ṇa sahati asaṃjame a ratim teṇa majhattho niccmeva avimaṇo dhiro 'tamhādeva virajjate' visaesu.
19. One should not tolerate apathy to subdual — this is the secret of the development of one's will-power. Deliberate meditation, i.e. -canalization of thought-processes, on subjects in which men are not normally interested is helpful in the development of will-power. Sense-organs are a slave to sensuality, rather than indifferent to it. Therefore, sometimes a *sādhaka* gets attracted to what 'the flesh is heir to! Hence he becomes apathetic to the practice of self-discipline. His determination begins to slacken. A *sādhaka* who cannot tolerate laxity, canalizes his thought process in the direction of self-control. Thus, developing his will-power, he gains mastery over self-discipline.
The path prescribed by Bhagavān Mahavira, for the achievement of self-realization comprises the practice of constant vigilance and perseverance. In case a *sādhaka* is infatuated even momentarily by sensual delights, meditation once does away with his stupor. (consequently, he escapes from the indelible impress of the pent up sensual impulses.
If wantonness is not purged away, the mind begins to contract passion. One cannot, then, get rid of carnality. Therefore, the author has exhorted the aspirant to be very careful in this regard.
20. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 93: ṇaṃdī pamode ramaṇe samiddhīe ya issariyavibhavakayā manaso tuṭṭhī.
21. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 93: samanetti vā māhaṇetti vā muṇitti vā egatṭhā.

22. Ibid, p. 146 : dhūṇe sarīraṃ davveṇaṃ vaṇṇāti, bhāve kammāvakarisaṇaṃ, siriyata iti sarīraṃ, kataraṃ? Karmaśarīraṃ.
23. Ibid. 146 : ahavā orāliyasarīradhuṇaṇā
24. Aṃgasuttāni I, Sūyagado I, 10.11 : dhūṇe urālaṃ.
25. Sūtrakṛtāṅga Cūrṇī, p. 188 : urālaṃ ṇāma audārikasarīraṃ, tat tapasā dhūṇiḥi, dhūṇanaṃ kṛśīkaraṇamītyarthaḥ. Tismiṃśca dhūyamāne karmāpi dhūyate.
26. Yogarasāyana, 254 :
nādāraṃbhe bhavet sarvagātrāṇāṃ tataḥ.
śīrasaḥ kaṃpanaṃ paścāt saradehasya kaṃpanam.
27. eṣā paddhatiḥ vajjñānikaparibhāṣāyāṃ bāyophīdabaikapaddhatiḥ iti vaktam śakyam.
28. Mahābhārata, Śāntiparva, Mokṣadharmaparva, adhyāya 300, śloka 42-46:
Yudhiṣṭhira uvāca —
āhārān kidṛśān kṛtvā, kāni jītvā ca bhārat!
yogī balamavāpnoti, tad bhavān vaktumarhati.
Bhīṣma uvāca —
kaṇṇāṃ bhakṣaṇe yuktaḥ piṇyākasya ca bhārata !
snehānāṃ varjane yukto yogī balamavāpnuyāt.
bhujāno yāvakaṃ rūkṣaṃ, dīrdhakālamariṃdama!
ekāhāro viśuddhātmā, yogī balamavāpnuyāt.
paksān bhāsānṛtūm ścaitān, samvatsarānahastathā.
apaḥ pītvā payomiśrā, yogī balamavāpnuyāt.
akaṇḍamāpi vā māsaṃ satataṃ manujeśvara!
upoṣya samyak suddhātmā, yogī balamavāpnuyāt..
29. (a) Ācārāṅga Cūrṇī, p. 94 : samattam passamti sammaddamsiṇo.
(b) The author of the Vṛtti has interpreted sammattadamsiṇo as samatvarśī in the first instance and as an alternative as samyaktvadarśī. Probably the text before him was samattadamsiṇo. The interpretation samatvadarśī seems to be more consistent, because a samatvadarśī i.e. one who practises equanimity alone can eat unsavory food with equanimity. The Dasaveyāliyaṃ (5.1.97) corroborates this contention.
tittagaṃ va kaḍuyaṃ va kasāyaṃ, aṃbīlaṃ va mahuraṃ lavaṇaṃ vā.
Eya laddha mannaṭṭha-pauttaṃ, mahu-gayaṃ va bhūmjeja samjāe.
The self disciplined muni should eat food prepared for a householder and offered to him of whatever taste it may be as if he were eating honey and butter.
30. (a) Ācārāṅga Cūrṇī, p. 95 : esa iti jo bhaṇito appāṇaṃ paraṃ ca mokkhaṃ, nāti nāyā, jaṃ bhaṇitaṃ abhayatrāto.
(b) Apte—nāyaḥ—A leader, guide.
(c) Vṛttikāreṇa asya dvāvarthau kṛtau staḥ—
1. eṣa nyāyaḥ — eṣa sanmārgaḥ mumukṣūṇāmayaṃmācāraḥ
2. paraṃ ātmānaṃ ca mokṣaṃ nayatiti chāndasatvāt kartari gaṇnāyaḥ (Ācārāṅga Vṛtti, patra 131).

31. Ācārāṅga Cūrnī, p. 95 : pariṇṇā duvihā .. uvadisamṭi, taṃjahā baṃdho baṃdhahetu mukko mokkho mokkhahetuśca

(b) In common language, the experience which one does not like is referred to as sufferings. In the language of religion, the cause of sufferings is also called suffering. The bondage of karmas is the cause of sufferings. Bhagavān Mahāvira admonished the people thus —

There is bondage and there is cause of bondage.

There is liberation and there is cause of liberation.

(c) This is comparable to the four noble truths of the Buddhist Philosophy.

32. Cūrnau Vṛttau ca etat sūtram vyāvahārika-samyagdarśanaḍṛṣṭayā vyākhyātmaṣṭi:

(a) Ācārāṅga Cūrnī, p. 96: aṇṇa iti parivajjane tinni tisatṭhā pāvātiyasayā aṇṇadiṭṭhī, aṇṇadarisi vatāim tattvabuddhīe pekkati, imaṃ ekkam jaiṇaṃ tattvabuddhīe pāsati, jo aṇṇadiṭṭhī so niyamā aṇṇārāmo ṇa aṇṇatṭhāramatīti aṇṇārāmo, gatipaccāgatilakkhaṇeṇaṃ bhannaṭi— je aṇṇārāmo se niyamā aṇṇadiṭṭhī, jaṃ bhaṇitaṃ sammadiṭṭhī, ṇa ya aṇṇadiṭṭhīe ramati, taḥā visayakasāyadilakk-haṇe acaritte atave ṇa ya ramati.

(b) Ācārāṅga Vṛtti, patra 13 1.

(c) The fundamental mainstay of Bhagavān Mahāvira's asceticism is *apramāda* (i.e. complete lack of inertia, or constant vigilance). The first principle of this is close introspection.

The Bhagavān said, 'āperceive the Self through the Self.' Not being an extrovert implies being an introvert. Hence, the aphorism. Thus the processes of introspection and revelry in the Self continue to follow each other.

Passions (e.g. the id-impulses, indignation, conceit deceit and avidity) are not the properties of the soul; and, therefore, a true introvert does not delight in them.

Knowing the Self is the right Knowledge.

Perceiving the Self is the Right Perception.

Revelling in the Self is the Right Conduct.

This alone is the path to salvation.

The second principle of *apramāda* is -to live in the present, i.e. to identify oneself with the current activity. One who is absorbed in the present activity does not pay heed to any other activities. One who remains lost in the reminiscences of the past and imaginations of the future cannot live in the present. A person who is engaged in one activity while his mind is occupied with another cannot remain alive to the exigencies of the present concentration.

33. Aṃgasuttāni I, Sūyagado, 2.2.53: se bhikkhū dhammam kitemāne — no aṇṇassa heuṃ dhammamāikkhejjā. no pānassa heuṃ dhammamāikkhejjā. no vatthassa heuṃ dhammamāikkhejjā. no leṇassa heuṃ dhammamāikkhejjā. no sayañṇassa heuṃ dhammamāikkhejjā, no aṇṇesiṃ virūvarūvāṇaṃ kāmabhogaṇaṃ heuṃ dhammamāikkhejjā, agilāe dhammamāikkhejjā. nañnattha kammanijjaratṭhayaē dhammamāikkhejjā.
34. Cf. — Āyāro, 2.49, no hiṇe no airitte.
35. Aṃgasuttāni I, Thānaṃ 4.246.
36. Apte, Virah— Excellent, eminent.
37. uvalevo hoi bhogisu, abhogi novalippai
38. Gīta 5.7 Śaṃkarabhāṣya, p. 217.
Yogayukto viśuddhātmā vijitāmā jitendriyaḥ.
Sarvabhūtāmabhūtātmā kurvannapi na lipyate..
Sa traiva vartamānopi lokasaṃgrahāya kama kurvannapi na lipyate - na karmabhirbadhyata ithar-thaḥ. Na cāsau parmārthataḥ karotīyeta.
39. In Prakrit, the form of ṛṇa becoms aṇaṃ.
40. By wise one (*kusala*) is meant a person endowed with knowledge. A *muni* who is proficient in religious discourse, erudite in various schools of philosophy, practising what he professes, conqueror of sleep, sense-organs and hardships of *sādhanā* and conversant with the limitations of time and space, is called *ākusalaā* i.e. a wise one.
41. Cf. Pātañjalayogadarśana, Bhāṣya, 4.30 kleśakarmanivṛttau jīvanneva vidvaān vimukto bhavati.
42. Pātañjalayogadarśana, Bhāṣya, 2.27 etām saptavidhām prāntabhūmi-prajñāmanupasyanpuruṣaḥ kuśala ityākhyāyate, pratiprasavepi cittasya muktaḥ kuśalam ityeva bhavati guṇātītatvāditi.
43. (a) Ācārāṅga Cūrṇī, p. 100 : chaṇaṃ chaṇaṃ pariṇṇāe — chaṇim himsāe jeṇappagāreṇa chaṇaṇaṃ bhavati jahā satthapariṇṇāe ekkekassa kāyassa satthappagārā bhaṇitā taṃ chaṇaṃ duvihāe pariṇṇāe.
(b) Ācārāṅga Vṛtti, Patra 134: kṣaṇu himsāyām kṣaṇaṇaṃ kṣaṇo — himsaṇaṃ, kāraṇe kāryopacārāt yena yena prakāreṇa himsā utpadyate, tat tajñāparijñāyā parijñāya pratyākhyānaparijñāyā pariharet.
44. (a) Āyāro, 3.18 akammaṣṣa vavhāna vijji.
(b) Ibid, 3.19 : kammaṇā uvāhi jājai.
45. See, Āyāro, 2.73.
46. See, Āyāro, 2.74.

Jainism Under the Muslim Rule

Kamta Prasad Jain

The invasions of the Mohamedans on India began since the eighth century A.D.¹ and as ambitious foreigners, they had little chance at the outset to get settled in the country. Rather they came with the desire of plunder and murder. They did so and returned full with camel-loads of wealth. Their inhuman atrocities filled the hearts of Hindus with fearful hostility. But with the times, the mutual feelings changed. Muslim invaders settled in India and decided to rule as Indian kings. We find Babar instructing his son Humayun in the following remarkable words: ²

“O Son, the kingdom of India is full of different religions It is incumbent on thee to wipe all religious prejudices off the tablet of thy heart; administer justice according to the ways of every religion.”

The wise teaching of Babar prevailed and this paved the way for forming friendship with Hindu rulers, which was cemented by marriage contracts later on. Hindus heaved a sigh of relief and along with them Jainas also found an opportunity to observe and give full play to their predominating religious feelings, though after great suffering and sacrifice. In this respect the remarks of Prof. Helmuth von Glassenapp are justified³ and it is true that mutual relations between the Jainas and Mohamedans were friendly also.

Mohamedans first attacked Sind and they found it full of people called *Samans*.⁴ The ruler of Sind at the time was also a follower of *Samanis*, who observed the vow of Ahimsā minutely and had great confidence in their astrological predictions.⁵ No doubt the term saman or *śramana* equally stands for Jaina and Buddhist ascetics.⁶ But independent evidence proves the existence of the Jainas in Sind up to 15th century A.D. Jainas are also more famous for their vow of Ahimsā and knowledge of astronomy. The remarks of the Mohamedan writers about the people of Sind that “the infidels do not slaughter animals, nor do they eat flesh, fish or eggs.”⁸ are rightly

applicable to the Jainas.⁹ Hence it is most probable that the people whom earlier Mohamedan invaders first encountered were Jainas and they treated each other with a compromising spirit.

It was the nudity of the Jaina saints, whom Suleman found in a good number in India¹⁰ which specially attracted the attention of these Mohamedan invaders. It is said about Sultan Mohammad Ghorī that he at least entertained one of them, since his wife desired to see the chief of Digambaras.¹¹

During the latter period of Khilji, Tughalaq and Lodi kings, Jainas seem to have been so much predominant as to be successful in attracting the attention of a king like Allaiddin Muhammadshah Khilji. He was by nature cruel and implacable and his only care was the welfare of his kingdom. He had no consideration even for Islam and disregarded the provisions of the Muslim Law.¹² Yet he was a just king and ruled with a good heart but a severe hand. Consequently, his subjects were more loyal than ever. During his reign grain, clothes and other necessities of life were cheap, the dealings of bazar people were honest and the roads were safe in all directions. Even without the patronage of the Sultan many learned and great men flourished.¹³ It is said that the two Brāhmaṇas by name Rāgho and Chetan had great influence on Allaiddin and instigated him in religious matters.¹⁴ They beguiled him against the naked Jaina saints also. The Sultan summoned one of them. There was no learned Digambarācārya at the time in northern India. So the Jainas ran to South India and succeeded in inducing Ācārya Mahāsena to come over to Delhi to defend the Jaina Faith. Mahāsena appeared before Allaiddin and held religious discussions with his adversaries. The Sultan bent his head before his profound learning and asceticism.¹⁵ A Digambara Jaina by name Pūranacandra of Delhi was a friend of the Sultan¹⁶ and it is perhaps through him that Allaiddin came in to touch with a Digambarācārya. Śvetāmbara Jainācārya Rāmacandrasūri was also honoured by the Sultan.¹⁷ In 1297-1298 A.D. Allaiddin conquered the whole of Gujarat and it seems probable that he was the Mohamedan king who met Śrutavīra Swāmī, the Digambara saint of Alakeśvarapura and Bharavaccha.¹⁸

During the Tughalaq reign, the Jainas enjoyed much freedom, since more than one king of that line are reported to have entertained the Jaina Gurus. Sūra and Vira, the two Jaina chiefs of the Prāgvāta clan, were the ministers of Ghyasuddin Tughalaq.¹⁹ Besides, it is evident from the Padmavati Basti stone inscription of Humsa in Mysore State that Sultan

Mahmud or Mohammada entertained the Karnātaka Jaina Guru named Simhakirti.³ Prof. B.A. Saletore has identified this king with Mohammada Tughalaq. He writes that The only ruler who satisfied all these conditions was Muhammad Tughalaq, who ascended the throne in A.D. 1325 and reigned till A.D. 1351. Dr. Ishwari Prasad, correcting the erroneous nature of the statements made by modern writers on Indian history concerning that ruler, has amply shown that Sultan Muhammad Tughalaq was the most learned and accomplished of Muslim kings who sat on the throne of Delhi since the Muslim conquests; that he was well versed both in Islamic and Aristotelian philosophy; that he loved to argue with philosophers; that theologians and rhetoricians were afraid to dispute with him because of his extraordinary gifts of intellect; that he showed great regard for the religious susceptibilities of the Hindus and that till A.D. 1337, when Fakhruddin usurped the governorship of Lakhnauti and made himself an independent prince, Bengal continued to be under the protection of Sultan Muhammad Tughlaq. There is nothing strange Simhakirti having won renown in the court of Sultan Muhammad Tuglaq. He may have been only one of the many philosophers invited by the accomplished Sultan to Delhi.²¹

The next Tughalaq king who followed in the footsteps of his predecessor was Sultan Firozshāh Tughalaq. He, too was famous for his learning and philanthropy. He assigned 36 lacs of tankas for learned and religious men and about a 100 lacs in pensions and gifts to the poor and needy.⁵ This liberal-minded Sultan also invited Digambara Jaina saints and entertained them at his court and palace. It was for the sake of the queen of Firozshāh that the Jainācārya put on a piece of cloth to hide his nakedness and appeared before her clothed. Although he took prāyaścitta for this, his undue liberty, the example set by him was soon adopted by his followers and the sect of Bhaṭṭārakas, with their clothed Yatis came into existence.²³ The Jaina poet Ratnaśekhara was honoured also by Sultan Firozshāh.²⁴ Further, it is reported about his Sultan that he invited many Brāhmaṇas and Seoras to read the inscription on the pillar of Asoka, which he got removed to Delhi from the village Khizrabad.²⁵ The Jainas in the Punjab side are called Seoras even to this day. So the Seoras invited by the Sultan were no other than the Jainas. These facts are enough to point the great influence which Jainas wielded during the Tughlaq regime.

During the period between A.D. 1526-1761, the kings of the famous Sūra and Mughal dynasties ruled over India and the Jainas were fortunate to enjoy the patronage of some of them.

Among the Sura kings, Sikandara Sultan, who was on the throne of Delhi in A.D. 1554, honoured the Jaina Guru Viśalakīrti of Karnataka.²⁶ It is probably due to this patronising spirit of the Mohamedan rulers which they showed towards the Jaina Gurus that the naked Jaina saints freely moved all over India during the period, as is evident from their mention by Marco Polo,²⁷ Tavernier²⁸ Bernier²⁹, and Mallik Jayasi.³⁰

Now, turning to the Mughal period of Muslim Rule, we find Jainas enjoying much more liberty than they had ever enjoyed before. The naked sect of the Jaina ascetics was also influential to such an extent that it attracted the attention of Abul Fazal, who mentioned it in his Ayeen-i-Akbari.³¹ The modern town of Bairat in Jaipur State was the centre of the Digambara Jainas at the time. Sāhu Todar, a Digambara Jaina of Bhatāniyā Kola was the Mint Officer under the imperial Service of Akbar.³² This Sāhu Todar, patronised the Jaina poet Rājamalla of Bairāt who had spoken highly in favour of the great emperor and informs us that Akbar abolished the 'Jazia' tax and prohibited the sale of intoxicants.³³ And if we believe the Jesuit missionary Pinheiro,³⁴ we must say that Akbar followed the sect of the Jainas. No doubt he showed great kindness and patronage towards the Jainas and their Gurus. Śrī Hīravijayasūri, Vijayasena and Jinacandra of the Śvetāmbara sect enjoyed power and had much influence over him.³⁵ The Jaina principle of Ahimsā greatly influenced the character and religious policy of Akbar. He issued Firmāns to the Jainas for stopping cruelty and killing of animals at many a sacred Jaina place. The above mentioned Jainācāryas were honoured also by Emperor Jehāngīr, who conferred the title of 'Yuga Pradhāna' on Jinasimha, the disciple of Jinacandra.³⁶ The Digambara Jaina poet Benārsidās, it is reported, was favoured by Shāh Jehān,³⁷ whose son Muradbux, while governor of Gujarat, showed great kindness to Johari Śāntidāsa of Ahmednagar.³⁸ Aurangzeb appointed this foremost Jain jeweller of Gujarat as one of his Darbaris.³⁹ Although Aurangzeb was famous for his bigotedness, yet it seems that the profound learning, unpolluted pioussness, natural simplicity and the vigorous feeling to do good to mankind at large of the Jaina saints so much affected the heart of the despotic emperor that he was inclined to entertain and honour their chief.⁴⁰ It is obviously the reason which made the contemporary Jaina poets to shower praises on this sovereign.⁴¹

In South India too, the relations between the Muslim rulers and the Jainas were not altogether hostile. Even Hyder Ali, the bigoted Muslim king, granted villages to the Jaina temples, though owing to the oppressive

nature of the government the great festivals at Śravanabelagola and other places were stopped.⁴² It is reported about the king of Bijapur that he was a friend and ally of the Jaina queen Bhairavadevi of Gerossapa.⁴³

It is a fact that the greatest number of Jaina temples were demolished and innumerable images were destroyed during the Mohamedan invasions, but it is equally true that the greatest number of the Jaina temples and images were constructed and sanctified during this period. It is strange to note that in Vikrama Samvat 1533 and 1548 one devout Jaina by name Jivarāj Pāpariwat got thousands of Jina images consecrated and sent them to every temple in India.⁴⁴ These images are found almost in all the Digambara Jaina temples even to-day.

Thus the outline of the situation and condition of the Jainas during the Mohamedan Rule proves to be a promising field of research for the scholars.

References :

1. Oxford Students History of India, p. 97.
2. Journal of the Mythic Society, Vol. XVIII, p 116.
3. Der Jainismus, p. 65
4. Elliot, History of India, Vol I, pp. 147-158
5. Elliot, ibid., pp. 158-161
6. That "the Jainas used the term (श्रमण) prior to the Buddhists is also conclusively proved by the fact that the latter (Buddhist) styled themselves 'Śākyputtiya-Śramanas' as distinguished from the already existing Niggantha Śramanas." *Buddhist India* p 143. Hence the term Śramana is rightly applicable to the Jainas. A1-Badaoni has mentioned also the Jain ascetics by the term Śramana when he wrote that they along with Brāhmanas had great access to Akbar the great (Lowe, Al - Badaoni II, p. 264.)
7. Jinavijaya, Vijnāpati - Trivenī (Bhāvnagar), Introduction
8. Elliot, loc, cit, p. 97.
9. Taking of meat and fish had never been prohibited among the Brahmins and Buddhists. See my Hindi book भगवान महावीर की अहिंसा (Delhi)
10. Elliot, loc, Cit, p. 6.
11. Indian Antiquary, Vol. XXI, p. 361 - "The wife of Muhammad Ghori desired to see the chief of the Digambaras."
12. Elliot, loc, cit., pt. III, p. 205 (Tārīkh-i-Firozshāhi).

13. Ibid. p 206
14. Jaina Siddhānta Bhāskara, Vol. I, pt. IV, p. 109.
15. Jaina Hitaisī (Bombay), Vol. XV, p. 132.
17. Der Jainismus (Berlin) p. 66.
18. 'अलकेश्वरपुराद्धरवच्छनगरे राजाधिराजपरमेश्वर यवन-राय-शिरोमणि महम्मदपातशाह सुरत्राणसमस्या पूर्णादखिलदृष्टिनिपातेनाष्टादशवर्षप्रायप्राप्तदेवलोक श्री श्रुतवीरस्वामिनाम् ।' जैन सिद्धान्तभास्कर, भा. 1, किरण 2-3, पृ. 35' Allauddin was known also as Muhammad Shah.
19. Somacaritragani, Guruganaratnākara, quoted by Dr. B.A. Saletore in the Karnāṭaka Historical Review, Vol. IV, p. 86. f.n.
20. "..... Śrīmad Dillī-pure ... muda Sūtrānasya mārḍkrteḥ nirjityāśu sabhāvanam Jinagurur Bauddhādi-vādi-vrajam Śrī-Bhaṭṭāraka Simha-Kīrti-munī rā.....dyaīak-vidā-guruh)"
21. Saletore, loc. cit., p. 85.
22. Elliot, loc.cit., pt. III, p. 317.
23. Bhaṭṭāraka-Mimāṃsā (Surat) p. 2.
24. Der Jainismus, p. 66.
25. Elliot, loc. cit., p. 352.
26. Saletore, Kar. Hist. Review, Vol. IV, pp. 78-81.
27. 'Some Yogis went stark naked, because as they said they had come naked into the world and desired nothing that was of this world.' Yule's Marco Polo, II p. 366.
28. 'These fakirs ordinarily travel in troops each of which has its chief or superior ... they go perfectly nude....' Travels in India Vol. II, Book-III, p. 196-97
29. 'I have often met, generally in the terrioty of some Rājā, bands of these naked fakirs— Bernier, Travels in the Mogul Empire, p. 317.
30. Mallik Muhammada Jāyasī was in service of Shershāh and he wrote the famous Hindi classical poem 'Padmāvata', in which he refers to naked saints. (2.60) कोई ब्रह्मचारज पन्थ लागे । कोई सुदिगम्बर आछा लागे ॥
31. Ayeen-i-Akbari (Lucknow), Vol. III p. 87.
32. नानाटकसारदक्षकः - ' श्रीसाधुटोडरः सुधीः ।' - जम्बूस्वामीचरित (बम्बई) पृ. 7-9
33. 'मुमोच शुल्कं त्वथ जेजियाभिधं स यावदंभोधरभूधराधरम् ।
धराश्च नद्यः सरितांपते, पयः यशः शशी श्रीमदुकव्वरस्य च ॥ 27 ॥
वधैर्नमेतद्वचने तदास्यतो न निर्गतं क्वापि निसर्गतिश्रिवतिः ।
अनेन तद्वृतमुदस्तमेनसः सुधर्मराजः किल वर्ततेऽधुना ॥ 28 ॥
प्रमादमादाय जनः प्रवर्तते कुधर्मवर्गेषु यतः प्रमत्तधीः ।
ततोऽपि मद्यं तदवद्यकारणं निवारयामास विदांवरः स हि ॥ 29 ॥' - जम्बूकुमारचरित, पृ. 4-5

34. 'He (Akbar) follows the sect of the Jainas'. - Pinheiro, quoted by Smith : 'Akbar' p. 262.
35. "... The Jain holy men undoubtedly gave Akbar prolonged instruction for years which largely influenced his actions; and they secured his assent to their doctrines so far that he was reputed to have been converted to Jainism." Smith, Jain Teachers of Akbar.
36. Vidyāvijaya, "Sūriśvara Aura Samrāta", pp. 75-360.
37. Benarsi-Vilāsa (Bombay ed.), Introduction.
38. Der Jainismus, p. 67.
39. Der Jainismus, p. 67.
40. '(The Jaina) Acharyas by their character, attainments and scholarship ... commanded the respect of even Muhammadan sovereigns like Allauddin and Auranga Padusha (Aurangzeb).' *Studies in South Indian Jainism*, II, p. 132.
41. "औरङ्गशाह बलीको राज, पायो कविजन परम समाज ।
चक्रवर्तिसम जगमें भयो, फेरत आनि उदधि लों गयो ॥
जाके राज परम सुख पाय, करी कथा हम जिन गुन गाय ॥" - कवि विनोदालाल
42. *Studies in South Indian Jainism*, pt. I. p 117.
43. Buchanan, *Travels in the districts of Kanara and Malabar*.
44. Chhottelal Jain, 'Jain Pratimā-Yantra-Lekha-Sangraha', Intro. (Calcutta)

The Jain Teachers of Akbar

By Vincent A. Smith

The concluding section Āin 30 of Book of II of the Āin-i-Akbarī is entitled 'The Learned Men of the Time', who are enumerated as being 140 in number divided into five classes. The first class, 'such as understand the mysteries of both worlds', headed by the name of Abu-I-Fazl's fathers, Shaikh Mubārak, ends with No. 21, Ādit (Āditya), probably a Brahmanical Hindu. The first twelve names are Muslim. Nos. 13-21 are all Hindu in form. Blochmann evidently knew nothing about the persons indicated by those nine names, as he gives no note on any one of them. No. 16, Harijī Sūr, was, as will be explained, an eminent Jain.¹

We need not trouble ourselves now with Abu-I-Fazl's second, third and fourth classes. His fifth class, 'such as understand sciences resting on testimony (*naḥī*)' comprises Nos 100-140, all of whom, except the last two, are Musamāns. The names of those two, Nos. 139 and 140, are given respectively as Bijai Sēn Sūr and Bhāu Chand, again without comment by Blochmann. They also were distinguished Jains.

The important fact that Akbar welcomed Jain teachers and listened to their instruction for at least twenty years has been ignored in the extremely unsatisfactory account of his life and actions given in modern history books. Indeed, this fact has been made known only by an anonymous article in an obscure publication in 1910, which will be described presently.

The erroneous notion that Buddhists took part in the debates on religion, held first in the Ibādat-khāna or House of Worship,² and subsequently in the private apartments of the palace at Fathpur-Sikrī rests on the mistranslation of a passage in the Akbarnāma committed by Chalmers in his manuscript version and copied first by Elliot and Dowson and then by Von Noer.

Abu-l-Fazal relates that at the end of September, or early in October, 1578 the discussions in the Ibādat-khāna were carried on by the representatives of many creeds. 'Sūfi philosopher, orator, jurist, Sunnī, Shīa, Brahman, Jati Siūra, Chārbāk, Nazarene, Jew, Śātri (Śatran), Zoroastrian, and others enjoyed exquisite pleasure' (Vol. III, Chap. xlv, p. 365 of Beveridge's version). The words Jati and Siūra, which of course refer to Śvetāmbara Jains, were mistranslated by Chalmers, as 'Jains, Buddhists'. That error, having been adopted by Elliot and Dowson (Vol. VI, p. 59), misled von Noer, who drew the erroneous inference that 'it may be concluded with not too slight probability that there were Buddhists at Fathpur' (transl. Beveridge, l. 327, note). In reality, there is not a particle of evidence that any Buddhist ever attended the debates, or that Akbar acquired even the slightest knowledge of Buddhism. Abu-l-Fazl himself knew little about the subject, because he could not find anybody in India competent to teach him. He says expressly: - 'For a long time past scarcely any trace of them (Buddhist monks) has existed in Hindustan, but they are found in Pegu, Tenasserim, and Tibet. The third time that the writer accompanied His Majesty to the delightful valley of Kashmīr (scil. A.D. 1597), he met with a few old men of this persuasion, but saw none among the learned.'¹ It thus appears that Akbar never had an opportunity of meeting any learned Buddhists, and that no Buddhists took part or could have taken part in the discussions at Fathpur-Sikri.

But the Jain holy men undoubtedly gave Akbar prolonged instruction for years, which largely influenced his actions; and they secured his assent to their doctrines so far that he was reputed to have been converted to Jainism. The correct name of the Jain who 'understood the mysteries of both worlds' was Hiravijaya Sūri, and the names of the two teachers mentioned by Abu-l-Fazl as 'understanding sciences resting on testimony (nakl)', such as religious law, traditions, and history, were Vijayasen Sūri, and Bhānucandra Upādhyāya.

We will now briefly discuss the relations of these three teachers with Akbar.

Hiravijaya

Hiravijaya, the most distinguished of Akbar's Jain instructors, who was credited with the conversion of the emperor, was born in Saṃvat 1583 - A.D. 1526-7, at Palanpur (Prahādān Pātan), an ancient town in Gujarāt. At the age of 13 (A.D. 1539), he took up the religious life under the guidance

of Vijaya Dāna Sūri, who sent him to the Deccan to study logic, in which he became proficient. In A.D. 1557 he was given the title of Vācaka at Nadulai or Nāradpur, and two years later was made a Sūri at Sirohi in south-western Rājputāna. He thus became the leader of the Tapāgaṇa or Tapāgaccha section of Jain ascetics.

In the *Paṭṭāvalī* of the Tapāgaccha his biography is entered in the following terms:—

‘58 Hiravijaya, who converted the emperor Akbar (of Kharatara-Paṭṭāvalī, sub 61), born Saṃ, 1583 Mārga sudi 9, at Prahlādanapura, dīkshā, 1596, Kārtika vadi 2, at Pātaṇa; vāchakapada, 1608, Māgha sudi 5, at Nāradapuri; sūripada, 1610, at Sirohi, died 1652, Bhādra⁰ sudi 11 (A.D. 1595) at Umnānagara.¹

The reference to No. 61 of the Kharatara-gaccha (ibid p. 250) is of interest because it credits the saint Jinacandra of the Kharatara section with having ‘converted the Emperor Akbar to the Jain religion.’ His name is not entered in any of Abu-l Fazl’s lists, and I have not found any other mention of his presence at Akbar’s court.

The fame of Hiravijaya having reached Akba’s ears, the emperor sent swift messengers to summon him to court. Shihāb Khān (Shihābu-d-din Ahmad Khān), the Governor of Gujarāt, on receiving the imperial commands, arranged for the departure of the Sūri, who made over the charge of his community to Vijayasena. The Sūri, in strict compliance with the rules of his order, declined all the gifts and conveyances offered by the governor. He walked the whole way, much to the amazement of the emperor, who provided for his reception with great pomp. Akbar, being busy at the time, made his guest over to Abu-l Fazl, who entered on the discussion of religious subjects with him. When Akbar was at a leisure, he received instruction concerning Dharma from the Sūri, who explained the nature of the five vows observed by Jain ascetics - namely, non-killing, truthfulness, refusal to accept anything not freely offered, celibacy, and abstinence from possession of wealth in the form of money, etc. The emperor pressed certain books on his guest, who accepted them reluctantly and then gave them to the Agra library, meaning presumably that of the Jain community at that place.

The Sūri retired to Agra for the rainy season of 1582, returning to Fathpur-Sikrī at the beginning of the cold season. He persuaded the emperor

to issue various commands in accordance with Jain doctrine, and to extend them in the following year, 1583. Fishing in the great lake called Dābar, evidently that at Fathpur-Sikri, was prohibited. The title of Jagadguru or World Teacher, was conferred on the Sūri, who quitted the capital in 1584, leaving Śānticandra Upādhyāya behind him at court. Hīravijaya spent the rainy season of 1585 at Allahabad, designated as Abhirāmābād,⁵ and that of 1586 at Agra. During the rains of 1587 he was the guest of 'Sultan Deorah or Deodah',⁶ the chief or zemindar of Siohi, who was much attracted by the doctrine of the Sūri who had attained his rank as such at Sirohi in A.D. 1538 (Saṁ. 1610). Later in the year 1587, Hīravijaya returned to Patan (Pattan) in Gujarāt. He starved himself to death in the approved Jain fashion in A.D. 1595 at the age of sixty-nine. A stūpa was erected to commemorate him.

The basis of this paper is the essay by 'C' entitled 'Hīravijaya Sūri, or the Jainas at the court of Akbar', published in a number of the *Jaina - Sāsana*, a little known periodical printed at the Angrize Kothi, Benares City, in *Vira Saṁ.* 2437 - A.D. 1910, pp. 113-128. The autor of that essay was the first to make public the identification of the three Jain names in Abu-l Fazl's lists. He makes extensive quotations from several metrical Sanskrit works, of which two are not mentioned by Guérinot in his *Essai de Bibliographie Jaina*, Leroux, Paris, 1906; or in the supplement to that work, entitled '*Notes de Bibliographic Jaina*' printed in the *Journal Asiatique*, Juliet æ Aout, 1909, pp 47-148.

The poems cited by 'C' are :-

- (1) *Jagadguru - Kāvyaṁ* :
- (2) *Hīra-saubhāgyam* : by Devavimala Gani, Ed. by K.P. Parab (Kāvyaṁālā, No. 67), Bombay 1900, with the author's commentry;⁷
- (3) *Kṛpārasa-kośa* : a panegyric on Akbar, composed by Śānti (Śānti) candra.

Further information about them would be welcome.

Klatt noted the following particulars concerning works connected with Hīravijaya Sūri -

- (4) *Pattāvali* of the Tapā-gachchha.

The *Gurvāvali* of *Dharmasāgara*-gani (Saṁvat 1629) is printed in Weber, Verz. II, pp. 997-1015. This is the original edition of Dh. ALI the

Poona Mss contain the revised edition, made Saṃvat 1 648 (=A.D. 1591) by the order of Hīravijaya Sūri Later works are - the *Pattavali* contained in Sarga IV of Devavimāla's *Hīravijaya'-caritra*, see *Journ. Germn. Or. Soc.*, vol. 47, p. 315. (Klatt and Leumann, *Ind. Ant.*, vol. XXIII (1894), p 179).

Vijayasena Sūri and Bhānucandra Upādhyāya

We have mentioned that Hīravijaya, when starting on his long journey to court, put Vijayasena in charge of his sector congregation, and that when Hīravijaya quitted Fathpur-Sikri in 1584, Sānti (Sānti) candra remained at court. He composed an eulogy of the emperor, entitled *Krparasa-kosa*, 'Treasury of the Quality of Mercy' describing and praising all Akbar's merciful acts. This elaborate piece of flattery used to be read to Akbar, who was pleased with it. Late in 1587 when Sānticandra desired to return to Gujarat, the emperor gave him *farmāns* abolishing the *jizya* tax on non-Muslims, and prohibiting slaughter of animals to a large extent. The forbidden days were extended so as to comprise half the year.

Bhānucandra continued to reside at court. His pupil Mahāmahopādhyāya Siddhicandra composed a commentary on the latter half of the *Kādambari* of Bāṇa. He had the reputation of being able to do 108 things at a time, and so secured from Akbar the formal title of *Kḥush-faham*, or 'Intelligent'. From the colophon to the commentary on the *Kadambari* by Siddhicandra we learn, through C's quotations, that his teacher, Bhānucandra, a Mahopadhyaya, had taught Akbar 1000 names of the Sun, and had obtained from the emperor in 1593 *farmāns* abolishing the tax on pilgrims to the holy hill of Satrunjaya at Palitana, and directing that all the sacred places should be made over to Hīravijaya Sūri.

Vijayasena Sūri was then invited to the court, which continued to reside ordinarily at Lahore until 1598. He vanquished 363 learned Brahmans in formal debates to Akbar's satisfaction and so earned the title of Sawāi. He made Bhānucandra an Upādhyaya or instructor, the expenses of the ceremony, amounting to 600 rupees, being defrayed by Abu-I Fazl.⁸

Probably Bhānucandra continued to reside at the court until the end of the reign in 1605. However that may be, the details given above prove conclusively that Akbar's close intercourse with Jain teachers lasted for at least twenty years, from 1578 to 1597 inclusive.

A person called Shāh Sauvarṇika Tejapāla induced Hīravijaya in 1590 to consecrate the temple of Ādiśvara or Ādinātha on the Śatruṅjaya

hill, the 'Shatrunja' of the *Imperial Gazetteer*, adjoining the town of Pālītāna in Kāthiāwār. In the porch of the eastern or front entrance of that temple there is an exceptionally long Sanskrit inscription, comprising 87 verses in various metres, the composition of Hemavijaya, and dated 1650 = A.D. 1593.⁹

The long record has high historical value as a trustworthy contemporary account of Akbar's dealings with his Jain teachers. It will be well first to quote Buhler's summary of the contents. He notes that the inscription enumerates sundry Jain leaders of whom the third is Hiravijaya, and proceeds -

(3) HIRAVIJAY (Klatt No. 58), verses 14-24, who was called by Shāi Akabbara (Shāh Akbar) to Mevāta, and persuaded the emperor in Saṃvat 1639 (-A.D. 1582) to issue an edict forbidding the slaughter of animals for six months, to abolish the confiscation of the property of deceased persons, the *Sujjia* tax, and a *Sulka*¹⁰ to set free many captives, snared birds and animals, to present Satruñjaya to the Jainas; to establish a Jain library (*Paustakam bhāṇḍāgāram*), and to become a saint like king Śreṇika;¹¹ who converted the head of the Lumpākas, Meghaji,¹² made many people adherents of the Tapāgachchha; caused many temples to be built in Gujarat and other countries; and made many natives of that country, of Mālava, and so forth, undertake pilgrimages to Satrunjaya, No. CXVIII commemorates one of these pilgrimages, which was undertaken by Vimalaharsha and 200 others. The same inscription states that Hiravijaya belonged to the Sāpha race. He died, according to XIII by starvation, at Unnatadurga, in Saṃvat 1652, Bhādrāpada Śukla 10, and his pādukas were erected in the same year, on Mārga. vadi 9, Monday, by Udayakarna of Stambhatirtha (Cambay)¹³ and consecrated by Vijayasena. (4) Vijayasena (Klatt No. 59), (verses 25-34), who was called by Akabbara (Akbar) to Lābhapura (Lahor), received from him great honours, and a *phuramāna* (*framān*), forbidding the slaughter of cows, bulls, and buffalo-cows, to confiscate the property of deceased persons and to make captives in war; who, honoured by the king, the son of Choli-bēgam¹⁴ (Choli Vegama), adorned Gujarāt. Latest date Saṃvat 1650.

The nature of the orders issued by Akbar in conformity with the advice of his Jain monitors is sufficiently indicated by Buhler's summary of the great inscription as quoted above. The testimony of that record is fully confirmed by Badāoni, who adds that infringements of the rules concerning the killing of animals were treated as capital offences. Akbar, in adopting

such rigorous measures, followed precedents set by Harsa and various other ancient Indian kings, who preferred the life of a best to that of a man.¹⁵

The order forbidding the confiscation of the property of deceased persons is expressed in the text of the inscription (v. 32) by the words मृत्तवित्तमशेषम् 'the whole estate of the dead was to be released.' The command professed to repeal the rule of practice under which the Mogul emperors were accustomed to seize the property of any deceased subject who left an estate worth confiscating. The order of repeal, like many other benevolent enactments issued from time to time by Akbar and his successors, was not acted on. When Akbar's mother died in 1604, leaving a will directing her estate to be shared among her male descendants, the emperor disregarded her injunctions and seized the whole for himself, as Du Jarric relates.¹⁶

According to Badāonī (Lowe, p 404), the legislation of A.H. 1002 (=A.D. 1593-4) provided that -

'An inspector and registrar of the effects of those who died or disappeared was to be appointed. So that if any one who died had an heir (P. 391), after it had been proved that he did not own anything to the imperial exchequer, was not a *karori* (tax-gatherer), or a banker receiving deposits, the heir might take possession of it; otherwise it passed into the imperial treasury; and until they got a receipt from the treasurer, they were not to bury the deceased'.

Those rules, it should be observed, were issued long after the decree obtained by the Jains which professedly abolished the confiscation of the estates of deceased persons in general terms. The modified rule of 1593 was not observed, and the protection given to the subject was illusory. There is abundant evidence that Akbar and his successors ordinarily seized all estates worth taking. There was much 'make see' to use the Chinese phrase, about the orders repeatedly issued to abolish burdensome imposts and practices.

The Jizya was supposed to have been abolished universally in the ninth year of the reign (1564); and when Gujarat was annexed in 1573, the abolition should have taken effect in the province. But the inscription shows that it did not, and that a fresh order of abolition was required in 1593. Probably the local governor disregarded the concession made to the Jains at that date, just as he had disregarded the general orders of 1564. The Viceroys, as a matter of fact, could ordinarily do what they pleased in all questions of administration, and in many cases were personages far too

powerful to be seriously checked by imperial authority, even in the days of Akbar, who was stronger than any of his successors. Unfortunately, we know little about the actual administration of Akbar's empire, but enough is on record to permit of no doubt that the noble sentiments and benevolent enactment's which figures so largely in the panegyric books were translated into practice in a manner extremely imperfect.

To sum up. Akbar never came under Buddhist influence in any degree whatsoever. No Buddhists took part in the debates on religion held at Fathpur-Sikrī, and Abu-l Fazl never met any learned Buddhist. Consequently his knowledge of Buddhism was extremely slight. Certain persons who took part in the debates and have been supposed erroneously to have been Buddhist were really Jains from Gujarat. Many Jains visited the imperial court or resided there at various times during at least twenty years, from 1578 to 1594, and enjoyed ample facilities for access to the emperor. The most eminent Jain teacher who gave instruction to Akbar was Hiravijaya Sūri. The two other most important instructors were Vijayasena Sūri and Bhānucandra Upādhyāya. The doings of those three persons are recorded in Sanskrit poems entitled (1) *Jagadguru-kavyam*; (2) *Hira-saubhāgyam*; (3) *Krpārasa-kośa* and (4) *Hiravijaya caritra*; as well as in the Pattāvali of the Tapa gaccha section of the Jain community, and in the inscriptions at Śatruñjaya, especially the long record No. XII comprising 87 verses, composed by Hemavijaya and set up in A.D. 1593 at the Ādinath temple. The documents prove that Akbar's partial acceptance of the doctrine of ahimsa, or abstention from killing, and sundry edicts intended to give effect to that doctrine, resulted directly from the efforts of Hiravijaya and his colleagues.

The two creeds which had the most influence upon Akbar's mind from 1578 to his death in 1605 were Jainism and Zoroastrianism.

The emperor granted various favour to the Jain community. Abu-l Fazl made use of his opportunities to compile an excellent and generally accurate account of the Śvetāmbara sect, derived from personal communication with learned men of that community, especially Hiravijaya Sūri. He failed to meet any learned member of the Digambara sect, and consequently observes that his account of the Digambara peculiarities has been written as it were in the dark.¹⁷

References :

1. The spelling 'Jain', not 'Jaina' is used intentionally. People do not ordinarily speak Sanskrit.
2. So much erroneous nonsense has been written about the Ibādatkhana that it is well to state briefly in this place the facts, which will be explained more fully in an essay to appear in an early number of the Journal of the Royal Asiatic Society. The Ibādat-khāna, or House of Worship, was built by order of Akbar early in 1575 as a debating hall for the accomodation of the doctors of rival schools of Muslim theology only. For about three years the discussions were confined to the Islamitic domain. In 1578 Akbar ceased regular attendance at the mosque, and during that year admitted Jains and representatives of sundry other sects and religions to the disputations in the Ibādat-khāna. In Sept. 1579 he compelled the ulamā to issue the Infallibility Decree, which made him supreme arbiter in all disputed questions relating to Islam. Discussion on the subject in the Debating Hall thus became superfluous. In 1580, 1581, and 1582, the debates in which the Jesuits joined seem always to have been held in the private apartments of the palace.
The House of Worship was a large, commodious, handsomely decorated building, probably capable of accommodating several hundred people, erected in the gardens of the palace not far from the dwelling of Shaikh Salim Chishti. No trace of it has been found, and its exact site is totally forgotten. The reason for such oblivion probably is that in 1579, or soon after, the hall was demolished as being useless. Akbar had ceased to be a Musalman from about 1580; and from the beginning of 1582, when he promulgated the Dīn Ilāhī, his apostasy was open and avowed. He never resumed his old faith, and died as he had lived for twenty-three years, a believer in One God, represented on earth by His Imperial Majesty. All the statements in this note can be fully proved, and will be dealt with in my work on Akbar, which will be published as soon as war conditions at the Clarendon Press permit.
3. Āin, vol. III, tr. Jarrett, p. 212
4. Klatt, *Ind. Ant.*, vol. XI (1882), p. 256
5. This name for Allahabad is quoted by 'C' from one or other of the Jain Sanskrit poems. It means 'abode of delight', and probably never was current. I have not met it elsewhere.
6. 'Sultān Deorah' is a corruption of the name Surthān, a Deora Rājput, who was the Rāo of Sirohi in the reigns of Akbar and Jahāngir, and refused to recognize the imperial supremacy. The Deorās are a branch of the Chauhāns. Akbar had sufficient control over Sirohi to be able to pass the town when he wished to do so as he did in 1573. See *Imperial Gazetteer* (1908) s. v. Sirohi.
7. Guérinot, No. 433, p. 207
8. The ordinary ascetic is called a Sadhu. The next step to which he can rise is that of Upadhyaya or instructor. An exceptionally clever monk may be chosen

from amongst the others as teacher, when he is expected to study the scriptures and teach them to his fellow monks. Amongst the Tapāgaccha no monk can be chosen as an Upādhyāya till he has been an ascetic for at least a year. (Stevenson, *The Heart of Jainism*, p 239) See *Āin*, vol. III, p. 206

9. References are L - (1) short notice in Kielhorn's 'List of the Inscriptions of Northern India, appendix to *Epigraphia Indica*, vol. , No. 308; (2) *Būler*, abstract of contents of *Inser*. No. XII of 'Jaina Inscriptions from Satrunjaya' in *Ep. Ind.*, II, p. 38, and transcript of text, *ibid.*, pp. 50-59; (3) parts of text and transl. in 'C's essay above cited. The translation is quoted as from J.B.R.S. August, 1844, but really from the *Journal of the Bombay Branch of the R.As. Soc.*, for 1841. pp. 59-63
10. Possibly a tax on Jaina pilgrims visiting their their holy places may be meant - see also Elphinston's *History of India*. p. 339 (6th edition. The *Sujjia taxis*, of course, the *Jizya* or capitation tax on infidels) (G.B.)
11. Or Bimbisāra, the fifth Saiśunāga king of Magadha, who is believed by the Jains to have been a zealous adherent of their religion, as well as his son Ajātaśatru (See E.H.I., 3rd Ed. p. 35 n., and S.V. Venkatesvara Aiyar in *Ind. Ant.*, 1916, p. 12).
12. Regarding the Lumpākas see Bhandarkar, *Report on Sanskrit Mss.* for 1883-4 p. 153 (G.B.) 'C' (p. 114) states that Meghaji Rsi, being convinced of his errors, became a pupil of Hiravijaya. *Guerinot*, abstracting Weber, writes - 7. Secte Paḍimāri (Lumpāka). Fondee par Lumpāka in saṃvat 1508 (AD 1451) Elle a pour caractere fondamentale *detre* opposee *au culte des images* (Bibl. Jaina, No. 336, p. 176).
13. Stambhatīrtha, a Sanskritized form of Khambāyat or Khambāt.
14. Choli or Chūli Begam was an epithet applied to Akbars mother Hamida Bāno Begam, on account of her painful wanderings in the desert (Chūl), prior to her son's birth. Humāyūn conferred the title Chuli on the attendants who followed him through the deserts (*Akbarnāma*), tr. (Beveridge, vol. I, p. 412).
15. The interpretation 'capital punishment' is that of Blochmann, *Āin*, Vol. I, p. 200). Lowe renders simply 'punishment', adding that many a family was ruined, and his property confiscated' (page 331 and Errata). Blochmann seems to have been right. For the practice of Hindu kings, see *Early Hist. of India*, 3rd ed. pp. 181,344.
16. *Thesaurus*, III, p. 118
17. *Āin* tr. Jarrett, vol. III, p. 210. Mrs. Stevenson's books entitled '*The Heart of Jainism*'. Oxford University Press, 1915, and *Outlines of Jainism* by Jagmanderlal Jaini, M.A. Cambridge University Press, 1916 may be recommended to students of the subjects. Abu-l Fazl does not acknowledge the extent of the Jain influence on Akbar's views and practice. He confines himself to a compliment on his master's toleration, which embraced all sects, even the Jain, which the Brahmins abhorred.

Life Style of Non-violence

Muni Dulahraj

Once Gautama asked Mahavira, 'Bhante! What is God?' The Lord replied, 'Truth is God.' 'Sachham Bhyvvam.' Where there is truth, there is non-violence. Where there is truth, there is peace. Truth, Non-violence and Peace are intertwined. They cannot be separated.

Truth manifests in life when one practices self-restraint.

The way of practicing self-restraint is of two-fold the practice of self-restraint by a householder and the practice of self-restraint by a recluse. The Dharma in both is the same. Because this two-fold division is based on the ability of practice of an individual. The essence of Dharma does not differ. Practice of restraint by a house-holder means a practice with some exemptions because he has manifold duties to perform in his life—social, individualistic, national and other duties. As such he cannot abstain completely from violence or possessions.

The second category of Dharma is practised by a person who has completely renounced the worldly affairs and has become a recluse. Even though he lives amidst a society, he is not entangled in the worldly affairs. His main aim is to be free from all the bondages and to attain emancipation. He practices non-violence more fully. There is no exemption.

Now, first of all let us try to understand the definition of non-violence. Violence and non-violence go hand in hand. The existence of both depend upon one another. Hence, we can say that from time immemorial, non-violence was practiced in opposition to violence.

The main point is to know the foot hold of Ahimsā. There are two main factors on which the definition of Ahimsā is based. Some thinkers say that to save a living being is Ahimsā. To me, non-violence is the purity of heart, the equanimity. Non-violence is to be free from all the emotions and tensions, it is to limit the limitless cravings. Non-violence is to discard the

habit of luxurious life and cultivate the habit of enduring all the hardships resulting from wants. This will lead to peaceful living.

It is really astonishing to know that the sun begets darkness but more surprising is that in the social or individual life himsa has extended its spheres. The main base of social life is mutual understanding. Each and every unit of a society should help each other. No one should become a hindrance. Jain Acharyas said "All should help each other" Social life means a life of mutual understanding. When the relation of social units are peaceful, society progresses by leaps and bounds. When there are tensions, society become weakened.

Violence has manifold causes. According to some social thinkers, himsa is caused by the followings:

- (1) Mental tension
- (2) Negative attitude.
- (3) Mental fickleness
- (4) Nervous imbalance
- (5) Bio-chemical imbalance.

Others believe :

- (1) The seed of violence lies in the genes.
- (2) The seed of violence is in circumstances.
- (3) The seed of violence lies in fundamental instincts.

Besides these factors, the philosophical belief is that the seed of himsa lies in Karmas. It is the main source of all the evils. Himsa springs from it.

A man cannot live alone. He has to live in a society. Society means an assemblage of many people of different tastes.

All the people have their own instincts, tastes and thinking. As such to lead a peaceful life, one has to adjust with all. He has to give up some of his own likings and try to reconcile with others. This can only be accomplished when one has imbibed the essence of Ahimsā.

Non-violence is friendliness. This paves the way for peaceful living. If one engenders enmity, every unit of the society becomes against him and thus he becomes an enemy. He is left alone. Thus cut off from the society, he becomes full of tensions and his life becomes miserable. But on the other hand if he cultivates friendship with all, without any distinction of caste, creed, colour or race, he becomes one with all and thus he can be an instrumental cause for social upliftment.

Ahimsā is the purity of heart. A man who has pure heart is an open

hearted person. Such persons can earn the confidence of his fellowmen. All the people who come in his contact feel as if they are one with each other. Faith begets faith, suspicion begets suspicion. Purity of heart makes one an open book. He hides nothing.

Ahimsā is equanimity with all. Without this virtue one's Ahimsā becomes incomplete. One who practises Ahimsā with partiality, his Ahimsā is not complete. Acharya Sudharma said that equanimity is the essence of Dharma. Lord Mahavira's definition of non-violence lies in equanimity of life. This is always observed in its fullness. Equanimity means to consider all the sentient beings, whether mobile or immobile equal, as far as the main feature of the soul is concerned. Some living beings are developed and some are not. Some are one-sensed and some are five-sensed. But a non-violent person will consider all as equal and will never be detrimental to them. 'Treat others as your own self' will be his dictum.

All the conscious beings have the same intensity of feeling when they are hurt or troubled. Lord Mahavira said that when a mute person is pierced with a sharp weapon and hurt extensively he experiences terrible pain, but he is not able to express it in words. Likewise, the conscious beings which are not gifted with vocal cord, they cannot express their pain but do experience the pain terribly when they are hurt or killed. The similarity of experience or inner feeling is the basis of equanimity.

This is in short the definition of Ahimsa. Now, let us consider that in the light of these norms whether the life-style of non-violence is possible or not?

Ahimsa is an ideal, which is attainable by any one who treads the path of self-restraint. Slowly a practitioner can reach the pinnacle of Ahimsa. Ideal which is not in the reach of a practitioner is never an ideal but a hypocrisy. Ahimsa is the way of happy living and can be practised in day to day life.

For the life-style of non-violence there are some important norms which are to be adhered to:-

(1) Compassion:

Compassion means the stoppage of cruelty. 'All are one' this norm of identification of self with all beings leads one to engender compassion. This experience of oneness vehement the virtue of compassion. This is the core of non-violence. When anybody inflicted pain to Mahavira he used to think, it is really a pity, that a man inflicting pain to me is doing his own

harm by making one an instrument. How far am I instrumental for their emancipation? But some make me the means of hell. What a pity? This thinking used to fill his heart with compassion. Thus he was free from all kinds of feeling, friendly or hostile.

(2) Self-restraint :

Mahavira was an apostle of non-violence. The stream of non-violence flows in between these two banks i.e. self-restraint and compassion. Sometimes compassion bereft of non-violence leads astray and one becomes violent. Hence, it is but essential that compassion must be followed by self-restraint and vice-versa. It is an essential co-ordination. The compassion which aims at the eradication of inflections of one, is not full and it is not apprehensible. The sources of troubles are innumerable. If one tries to eradicate all the sources of trouble he will be entangled in the acts of violence. Just go get rid of this enigma Lord defined Ahimsa in the negative way non-violence is Ahimsa. In social life one should control his emotions and practise self restraint, so that nobody becomes a victim of his violent activity. One who practices self-restraint his cruelty is washed off, humility emerges. Self-restraint means controlling of all the senses, limiting one's own desires and ambitions, limiting the use of commodities, limiting the field of activity.

(3) Peaceful co-existence

The norm of non-violence in positive form is only connected with the soul, hence it has individualistic value. But when thousands of people live peacefully and harmoniously in the society without harming each other, the social value of Ahimsa is experienced automatically. This gives stability to the society. Co-existence of the people of different norms and thinking is the result of non-violence. This should be enhanced by all.

(4) Tolerance of others:

This world is full of contradictory thoughts. All differ from one another. This is one of the causes of difference. People are so accustomed to their own views that they are not able to with-stand the opposite views and thus the cold war begins. The theory of non-absolutism which is the product of non-violence, has not been well understood, hence this troublesome situation has emerged. The theory of non-absolutism teaches that all the people should tolerate the thoughts or others, whether those thoughts are apprehended by one or not, whether they are in accordance with his own thought or not. Anekant says that you should reach oneness in

manyness. Nothing in this world is fully contradictory or non-contradictory. Contradiction and non-contradiction co-exist. As such we must cultivate the habit of forbearing even opposite thoughts and try to search similarities in them. This norm of non-absolutism should be imbibed by the members of the society so that the life-style of non-violence becomes easy.

President Gorbachev has been one of the very few statesmen in the world who has understood that the world is interrelated, interdependent and integral. This is the very essence of non-absolutism.

5. Endurance

This virtue is the foundation stone of happy co-existence. In a family or in the society so many men and women live together. They have their own way of working, thinking, eating and behaving. These things vary from one individual to another. If one does not tolerate other family members, there will arise unharmonious situation and the unity of a family will come to an end. The older member of the family should be more and more tolerant. He should never try to make all the members follow him. If he stresses that no member of the society should think independently, but follow his own thinking, this begets hatred.

The theory of non-violence is the pivot of Śramana tradition. Sraman is made of the word 'Sama' It has three derivatives :

Equanimity (Sama)

Passionless State (Shama)

Self-restraint, freedom and self exertion (Shrama)

Lord Mahavira's tradition is based on 'Sama' with its threefold expressions. In the course of time, this theory of 'Sama' was thrown to the background and non-violence came in the forefront. The question arises, can non-violence survive in the absence of this trinity? The reply will be in the negative. This trinity is very essential in day to day life.

Violence is not an activity in itself, but a consequence. Without eradicating the main activity, the consequence can never be wiped off. When the tree is flowering and blossoming, we can never stop it giving fruits. It will undoubtedly bear fruits. Let us reach the root of himsa and hit hard at it, so that it is annihilated.

बुराई करने वाला अवश्य ही बुरा होता है पर बहुत अच्छा तो वह भी नहीं जो बुराई के भार से दब जाए। बुराई को पैरों से रौंदकर चलने वाला ही अपने मन को मजबूती से पकड़ सकता है।

With Best Compliments From :

M. G. SARAOGI FOUNDATION

(Mahadev Lal - Ganga Devi Saraogi Foundation)

41/1C, Jhowtalla Road

KOLKATA-700 019

प्रकाशक - सम्पादक - डॉ. मुमुक्षु शान्ता जैन द्वारा जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
के लिए प्रकाशित एवं जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित